विज्ञान गरिमा सिंधु

अंक: 71

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय (उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
Commission for Scientific and Technical Terminology
Ministry of Human Resource Development (Department of Higher Education)
Government of India

विविध स्तंभ

विज्ञान गरिमा सिंधु

अंक 71

अक्टूबर-दिसबंर, 2009

सत्यमेव जयते

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(उच्चतर शिक्षा विभाग)
भारत सरकार

आर.डी. ...—1अ

विज्ञान गरिमा सिंधु पत्रिका एक त्रैमासिक पत्रिका है। पत्रिका का उद्देश्य है - हिंदी के माध्यम से विश्वविद्यालयी छात्रों के लिए विज्ञान संबंधी उपयोगी एवं अद्यतन पाठय पुस्तकीय तथा संपूरक साहित्य की प्रस्तुति। इसमें विज्ञान विषयों के लेख, वैज्ञानिक लेख, शोध-लेख, तकनीकी निबंध, शब्द-संग्रह, शब्दावली चर्चा, विज्ञान कविताएं, विज्ञान कथाएं, विज्ञान समाचार, पुस्तक समीक्षा आदि का समावेश है।

लेखकों के लिए निर्देश

1. लेख की सामग्री मौलिक, अप्रकाशित तथा प्रामाणिक होनी चाहिए।
2. लेख का विषय मूलभूत विज्ञान, अनुप्रयुक्त विज्ञान और प्रौद्योगिकी से संबंधित सामयिक विषय पर होना चाहिए।
3. लेखन सरल हो जिसे विद्यालय/महाविद्यालय के छात्र आसानी से समझ सकें।
4. लेख लगभग 2000 शब्दों का हो। कृपया टाइप किया हुआ या कागज के एक ओर स्पष्ट हस्तलिखित लेख भेजें जिसमें दोनों तरफ हाशिया भी छोड़ें।
5. प्रकाशन हेतु भेजे गए लेख के साथ उसका सार भी हिंदी में अवश्य भेजें।
6. लेख में आयोग द्वारा निर्मित शब्दावली का ही प्रयोग करें।
7. लेख में प्रयुक्त तकनीकी/वैज्ञानिक हिंदी शब्द का मूल अंग्रेजी पर्याय भी आवश्यकतानुसार कोष्ठक में दें।
8. श्वेत-श्याम या रंगीन फोटोग्राफ स्वीकार्य हैं। रेखाचित्र सफेद कागज पर काली स्याही से बने होने चाहिए।
9. लेख के प्रकाशन के संबंध में संपादक का निर्णय ही अंतिम होगा।
10. लेखों की स्वीकृति के संबंध में पत्र व्यवहार का कोई प्रावधान नहीं है।
11. अस्वीकृत लेख वापस नहीं भेजे जाएंगे। अत: लेखक कृपया टिकट लगा लिफाफा न भेजें।
12. प्रकाशित लेखों के लिए मानदेय की दर 250/- रुपए प्रति हजार शब्द है तथा न्यूनतम राशि 150/- रुपए और अधिकतम राशि 1000/- रुपए है।
13. भुगतान लेख के प्रकाशन के बाद ही किया जाएगा।
14. कृपया लेख की दो प्रतियां निम्न पते पर भेजें:

    श्री अशोक सेलवटकर
    संपादक, 'विज्ञान गरिमा सिंधु'
    (मानव संसाधन विकास मंत्रालय)
    पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम.
    नई दिल्ली-110066

15. समीक्षा हेतु कृपया पुस्तक/पत्रिका की दो प्रतियां भेजें।

सदस्यता शुल्क :

	भारतीय मुद्रा	विदेशी मुद्रा	
प्रति अंक व्यक्तियों/संस्थाओं के लिए	रु. 14.00	पौंड 1.64	डॉलर 4.84
वार्षिक चंदा	रु. 50.00	पौंड 5.83	डॉलर 18.00
प्रति अंक विद्यार्थियों के लिए	रु. 8.00	पौंड 0.93	डॉलर 10.80
वार्षिक चंदा	रु. 30.00	पौंड 3.50	डॉलर 2.88

कापीराइट
प्रकाशक:
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
भारत सरकार, पश्चिमी खंड–7,
रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली – 110 066

बिक्री हेतु पत्र-व्यवहार का पता :
वैज्ञानिक अधिकारी, बिक्री एकक
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,
पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली – 110 066
दूरभाष – (011) 26105211
फैक्स – (011) 26102882

बिक्री स्थान :
प्रकाशन नियंत्रक,
प्रकाशन विभाग,
भारत सरकार,
सिविल लाइन्स,
दिल्ली – 110 054

2185 एच.आर.डी./10—1ब

विज्ञान गरिमा सिंधु

प्रधान संपादक
प्रो. के. बिजय कुमार
अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

संपादक
श्री अशोक सेलवटकर
वैज्ञानिक अधिकारी

प्रकाशन
डॉ. पी.एन. शुक्ल
सहायक निदेशक

कलाकार
श्री आलोक वाही

संपादन मंडल

1. प्रो. कीर्ति सिंह,
कुलपति, श्रीमती इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय,
रायपुर, हिमाचल प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय, पालमपुर,
नरेंद्र देव कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,
फैजाबाद,
(पूर्व अध्यक्ष, कृषि वैज्ञानिक नियुक्ति मंडल,)
सी-1/9654, वसंत कुंज,
नई दिल्ली-110070

2. डॉ ओम विकास,
पूर्व वरिष्ठ निदेशक एवं अध्यक्ष,
संचार और सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय,
सूचना प्रौद्योगिकी विभाग,
इलेक्ट्रॉनिक निकेतन, लोदी रोड
6, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स,
नई दिल्ली-110003

3. डा. कृष्ण बिहारी पांडेय,
अध्यक्ष, लोक सेवा आयोग (उ.प्र.),
10 कस्तूरबा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद

4. डॉ. शिव गोपाल मिश्र,
प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग,
महर्षि दयानंद मार्ग, इलाहाबाद-221002

5. डॉ. (श्रीमती) कृष्णा मिश्रा,
जैव प्रौद्योगिकी केंद्र,
नेहरू विज्ञान केंद्र,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद-211002

6. डॉ. निशीथ चतुर्वेदी,
परामर्शदाता एवं अध्यक्ष, विकृतिविज्ञान विभाग,
डॉ. राम मनोहर लोहिया अस्पताल,
नई दिल्ली-110001

7. प्रो. मुरलीधर तिवारी,
निदेशक, भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान,
इलाहाबाद

8. डा. रमेश दत्त शर्मा,
अध्यक्ष, भारतीय विज्ञान लेखक संघ
457, हवासिंह ब्लॉक, खेलगांव (एशियाड विलेज),
नई दिल्ली

9. अपर सचिव
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001

10. संयुक्त शिक्षा सलाहकार (भाषा)
मानव संसाधान विकास मंत्रालय
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)
शास्त्री भवन, नई दिल्ली.110001

11. प्रो. के. बिजय कुमार
अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधान विकास मंत्रालय
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग)
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्
नई दिल्ली-110066

संपादकीय

विज्ञान गरिमा सिंधु का 71वां अंक पाठकों को समर्पित है। हमें प्रसन्नता है कि इस अंक के लिए उपयोगी व सार्थक सामग्री प्राप्त हुई है। कृषि के क्षेत्र में जैव प्रौद्योगिकी का योगदान, कृषि उत्पादन पर भूमंडलीय ताप का प्रभाव, आलू का अंतरराष्ट्रीय महत्व, उत्तराखंड में सगंधीय पौधों की कृषि आदि लेख कृषि के नवीन आयामों से संबंधित हैं। हिंदी में विज्ञान-लेखन विषयक दो रोचक ज्ञानप्रद लेख प्रो. चंद्र शेखर पांडे एवं डॉ. शिव गोपाल मिश्र ने भेजे हैं जिनमें क्रमश: विज्ञान के प्रसार में भारतीय भाषाओं के महत्व एवं विज्ञान-लेखन के बदलते स्वरूप का दिग्दर्शन किया गया है। डॉ. मुकुंद नीलकंठ जोशी, भूवैज्ञानिक ने पृथ्वी के विकास की विभिन्न अवस्थाओं से संबंधित नवोन्मेषी विवरण प्रस्तुत किया है। स्वास्थ्य के संबंध में भी दो अत्यंत महत्वपूर्ण लेख पत्रिका में हैं। हम सभी लेखकों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

हमारा यह अंक आपको कैसा लगा? आप के बहुमूल्य सुझावों और नए लेखों की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

अक्टूबर, 2009
नई दिल्ली

(प्रो. के. बिजय कुमार)
संपादक
अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

अनुक्रम

			पृष्ठ सं.
1.	जैव प्रौद्योगिकी का कृषि-उत्थान में योगदान	आर.एस. सेंगर, रेणु चौधरी, अशोक सेलवटकर	1
2.	भूमंडलीय तापन का कृषि उत्पादन पर प्रभाव	डा. भूपेन्द्र राय	8
3.	खनिजों द्वारा पर्यावरण प्रदूषण	डॉ. विजय कुमार उपाध्याय	13
4.	अंतरराष्ट्रीय महत्व की फसल- आलू	डॉ. जितेंद्र सिंह	17
5.	कैल्सियम और स्वास्थ्य	डॉ. जे.एल. अग्रवाल	23
6.	भारतीय भाषाओं में विज्ञान प्रसार	प्रो. चंद्र शेखर पांडे	27
7.	विज्ञान-लेखन का बदलता स्वरूप	डॉ. शिवगोपाल मिश्र	30
8.	भूगोल-विषयक हिंदी-लेखन और तकनीकी शब्दावली	डॉ. ओंकार प्रसाद, डॉ कैलाश सिंह यादव	34
9.	पृथ्वी के इतिहास में युग-परिवर्तन	डॉ. मुकुंद नीलकंठ जोशी	38
10.	प्रवाल-भित्ति की अद्भुत दुनिया	नवनीत कुमार गुप्ता	42
11.	उत्तराखंड में औषधीय एवं सगंधीय पौधों की कृषि	डॉ. नवीन कुमार बोहरा	45
12.	कुपोषण एवं उससे संबंधित व्याधियां	डॉ. सी.पी सिंह	58
13.	रायबरेली जनपद में जल प्रदूषण	ललित कुमार मिश्र	60

विविध स्तंभ

■	निकष	'आधुनिक फलोत्पादन' पुस्तक की समीक्षा	65
■	ग्रंथ.सूची	आयोग के प्रकाशन	66

1

जैवप्रौद्योगिकी का कृषि-उत्थान में योगदान

आर.एस. सेंगर*, रेशू चौधरी** एवं अशोक एन. सेलवटकर***

जैविक कारकों, जैसे सूक्ष्मजीवों, जंतु एवं पादप कोशिकाओं अथवा उनके अवयवों, के नियंत्रित उपयोग से मानव के लिए उपयोगी उत्पादों या सेवाओं का उत्पादन जैव प्रौद्योगिकी है। जैव प्रौद्योगिकी में कृषि, वानिकी और मात्स्यिकी को प्रभावित करने की बहुत क्षमता है। जैव प्रौद्योगिकी की आधुनिक तकनीकी में क्लोनकृत जीन के एक जीव से दूसरे जीव में पहुंचने की क्षमता है, जिसका लाभ उठाया जा सकता है। जैव प्रौद्योगिकी की परंपरागत तकनीकों को अपनाकर उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, उन्नत उत्पादों के विविधीकरण एवं उपयोग को कारगर किया जा सकता है, किसी भी उत्पाद को गुणवत्ता की आवश्यकता के अनुकूल ढाला जा सकता है और कृषि रसायनों व बाहरी निवेशों पर निर्भरता को कम किया जा सकता है। जैव प्रौद्योगिकी की सहायता से क्षीण होते आनुवंशिक एवं प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण व उपयोग हो सकता है और पर्यावरण की रक्षा भी उनके उचित प्रबंधन द्वारा की जा सकती है। स्पष्ट रूप से जैव प्रौद्योगिकी में विज्ञान एवं इंजीनियरी के सिद्धांतों के उपयोग एवं जैविक उत्पादों, सेवाओं का उत्पादन किया जाता है। जैव प्रौद्योगिकी के विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न कार्यों में होने वाले उपयोगों से विभिन्न प्रकार की चुनौतियां भी सामने आई हैं। सामान्यत: निजी क्षेत्र के धन से किए जाने वाले अनुसंधान तथा औद्योगिक देशों में बौद्धिक संपदा अधिकार के उपयोग से यह पता चलता है कि आने वाले समय में जैव प्रौद्योगिकी का उपयोग कृषि तथा खाद्य सहित अनेक क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा पैदा करेगा और अंतत: अपेक्षाकृत लाभदायक सिद्ध होगा।

प्रभाव, उपयोग एवं क्षमता

अपने प्रभाव और क्षमता के बलबूते पर जैव प्रौद्योगिकी ने अनुसंधान एवं विकास की प्रगति में योगदान दिया है। इसी तरह कृषि वानिकी और मात्स्यिकी में प्रगति की बहुत संभावना है। जैव प्रौद्योगिकी को फसली पौधों में नए प्रभेदों, नए पौधों और प्राणियों से संबंधित नैदानिक उत्पादों, पशुओं के वैक्सीन, जैविक कीटनाशियों और खरपतवारनाशियों, अन्य जैविक नियंत्रक कर्मकों वाले घरेलू पशुओं में सुधार के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

कृषि क्षेत्र में जैव प्रौद्योगिकी का विकास विभिन्न फसलों में पराजीनी पौधों के रूप में हुआ है। पराजीन पौधे जैव प्रौद्योगिकी द्वारा विकसित उन पौधों को कहते हैं जिनमें किसी दूसरे जीव जंतु जैसे जीवाणु, कवक, दूसरी प्रजाति के पौधे तथा अन्य जीवों इत्यादि से किसी विशेष गुणों के लिए उत्तरदायी जीनों का अंतरण किया जाता है। दूसरे शब्दों में पराजीनी उस पौधे को कहते हैं जिनमें किसी अन्य जीवों से अंतरित जीन को डाल दिया जाता है।

विशेष रूप से खेत तथा फसलों से संबंधित समस्याओं, वन्य जातियों तथा मछली पालन पर आनुवंशिक इंजीनियरी

* तथा ** ऊतक संवर्धन प्रयोगशाला, जैव प्रौद्योगिकी विभाग, सरदार वल्लभ भाई पटेल कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्विद्यालय, मेरठ, ***वैज्ञानिक अधिकारी वै.त. शब्दावली आयोग, पश्चिमी ब्लॉक 76, रामकृष्ण पुरम नई दिल्ली

2185 एच.आर.डी./10—2अ

अर्थात् जैव प्रौद्योगिकी अनुसंधान का इतिहास अभी नया है। जातियों तथा पर्यावरण प्रणाली से संबंधित ज्ञान को अनेक मामलों में व्यापक बनाने की आवश्यकता है। विशेष कर इससे पहले कि जैव प्रौद्योगिकी की नई तकनीकों को प्रभावी ढ़ंग से लागू किया जाए। हो सकता है कि जहां एक से अधिक जीनों का अंतरण सफलतापूर्वक किया जा सकता है, वहां भी अंतरित जीन/जीनों की अभिव्यक्ति, वांछित स्तर की न हो पाए। अत: उपयोगी जीनों की पहचान तथा क्लोनों और प्रभावी वाहक प्रणलियों संबंधी खोजों, जीन अंतरण तथा प्रमोटर यांत्रिकी संबंधी विधियों में और गहनता लाई जानी चाहिए।

वर्तमान प्रगति से पता चलता है कि आगामी 5-10 वर्षों में नैदानिक विधियों से अनेक फसलों, वन्य प्राणियों तथा मछली जातियों में रंग-संबधी समस्याओं का हल प्राप्त हो जाएगा। कुछ उल्लेखनीय रोग है- केले का 'ब्लैक सिगोटोका' और नारियल व धान के कुछ विषाणु जन्य रोग। कुछ भौतिक प्रतिकूल परिस्थितियों को सहने, जैसे आलू में अधिक ताप सहने, की क्षमता भी इस तकनीक से प्राप्त की जा सकती है लेकिन अधिकांश जैविकेतर प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रति किस्मों और क्लोनों में उन्नत प्रतिरोध की क्षमता का विकास एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है।

1. फसलों में

जैव प्रौद्योगिकी की आधुनिक तकनीकों से पादप प्रजनन में अधिक शुद्धता और तेजी लाई जा सकती है। मक्का, धान, कपास, सरसों-तोरिया, आलू, चुकंदर, टमाटर तथा एल्फाल्फा सहित चालीस से अधिक फसलों में पराजीनी (ट्रांसजेनिक) किस्में विकसित की जा सकी हैं यानी पराये जीन डाले जा चुके हैं। लेकिन नई किस्मों का अभी व्यापारिक स्तर पर उपयोग होना है। निकट भविष्य में अनेक फलों और सब्जियों (आलू, टमाटर, खीरा, ककड़ी आदि), फलीदार फसलों (एल्फाल्फा या तिपतिया), तिलहनी फसलों (सरसों-तोरिया) और कुछ अनाज वाली फसलों (मक्का, धान आदि) की किस्मों के व्यापारिक स्तर पर अपनाए जाने की संभावनाएं हैं। अनेक पराजीनी किस्मों में खरपतवारनाशी प्रतिरोधक होने का गुण है, लेकिन इस गुण का व्यापक उपयोग फिलहाल विवादास्पद है।

पराजीनी फसलों का विकास विभिन्न गुणों के लिए किया गया है। इनसे सबसे प्रमुख खरपतवार शाक दवाओं के प्रति सह्यता वाला सोयाबीन तथा कपास इत्यादि है। हरबिसाइड शाकनाशी सह्यशील इस गुण वाली पराजीनी फसलों के विकास से खरपतवारों के नियंत्रण का सस्ता एवं कुप्रभाव रहित रास्ता निकाला गया है। इनके अलावा पराजीनी फसलों का विकास कीटों के नियंत्रण (बी.टी. मक्का, तंबाकू, बी.टी. कपास) गुणवत्ता (उच्च विटामिन ए वाला सुनहरा धान, गोल्डन पोटैटो), उच्च भंडारण क्षमता वाला टमाटर सुरूचिकरक्षी (फलेवर सेवर) टोमैटो संकर किस्मों के विकास में सहायक नर बंध्यता, (बारनेज बारस्टार सरसों) तथा समापक प्रौद्योगिकी (टरमिनेटर) जिसमें ऐसी जीनें अंतरित की गई है जिनमें फसलों से प्राप्त अनाज को बीज के रूप में अगली फसल के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

बी.टी. कपास में बैसिलस थ्यूरिनजिएसिस नामक जीवाणु से कीटों के प्रति प्रतिरोधक क्षमता रखने वाली जीन का अंतरण जैव प्रौद्योगिकी द्वारा किया गया है। पराजीनी फसलों के अंतर्गत लगभग 90 प्रतिशत से अधिक क्षेत्रफल विकसित देशों तक सीमित है। जैव प्रौद्योगिकी द्वारा पराजीनी पौधे तैयार करने के लिए अत्यधिक धन के साथ-साथ उच्च प्रौद्योगिकी की आवश्यकता होती है। जिस कारण इस के विकास एवं प्रयोग में विकासशील देश प्रगति नहीं कर पा रहे हैं। परन्तु 21 वीं सदी में जनसंख्या की खाद्यान्न पूर्ति में पराजीनी फसलों का महत्वपूर्ण योगदान होगा क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि दर, खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि दर से काफी कम होगी।

इस समय उत्तम क्लोनों के सूक्ष्म प्रवर्धन तथा रोपण

2185 एच.आर.डी./10—2ब

सामग्री को रोगमुक्त बनाने के लिए ऊतक संवर्धन तकनीकों का व्यापक उपयोग हो रहा है। विभिन्न विषाणुओं और वाइरॉइडों (विषाणुभों) की पहचान के लिए एकक्लोनीय प्रतिरक्षियों (ऐन्टीबॉडी) का उपयोग भी किया जा सकता है। प्रजनन में तेजी लाने और इसे सुविधाजनक बनाने के लिए परागकोश संवर्धन (ऐन्थर कल्चर) तथा लघुबीजाणु संवर्धन (माइक्रोस्पोर कल्चर) का उपयोग किया जा सकता है। परंपरागत प्रजनन कार्यक्रमों में तेजी लाने के लिए उपयोगी जीनों की पहचान हेतु आण्विक मानचित्रों और चिह्नकों (मार्करों) का उपयोग किया जा रहा है। मिट्टी में पोषक तत्वों के कारगर उपयोग के लिए उपयुक्त प्रभेदों तथा नाइट्रोजन यौगिकीरण प्रणालियों में भी आनुवंशिक इंजीनियरी का उपयोग हो रहा है। इस क्षेत्र के अन्य दीर्घकालिक लक्ष्य हैं- प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में आनुवांशिक फेरबदल तथा असंगजन (एपोमिक्सिस) द्वारा संकर बीज का उत्पादन। अनाज वाली फसलों में नाइट्रोजन का यौगिकीकरण करने की क्षमता उत्पन्न करना भी संभव हो सकता है।

2. पशुधन में

जैव प्रौद्योगिकी से कृषि तथा संबंद्ध क्षेत्रों में पशु-उत्पादन और स्वास्थ्य को बहुत लाभ होने की संभावना है। यद्यपि पराजीनी पशुधन के व्यावहारिक उपयोग की संभावना अभी भविष्य के गर्भ में है, लेकिन कारगर निदान के लिए एकक्लोनी प्रतिजीवों के व्यापक उपयोग से पशुओं के रोगों का सुरक्षित उपचार हो सकता है। जैव प्रौद्योगिकी द्वारा इसमें बहुत सफलता प्राप्त की गई है। आनुवंशिक इंजीनियरी टीकों का अधिक कारगर और सुरक्षित उपयोग हो सकता है। सूअरों, मुर्गियों तथा मवेशियों के कई रोगों के लिए उपयुक्त वैक्सीन तैयार की गई है। इसी प्रकार पशुओं में वृद्धि दर बढ़ाने के लिए अंत:स्रावी हॉर्मोन आदि को उद्दीप्त करने के टीके भी तैयार किए गए हैं।

जैव प्रौद्योगिकी के द्वारा कृषि, वानिकी और मात्स्यिकी उत्पादों की गुणवत्ता बढ़ाने और उपयोगों में विविधता लाने की व्यापक संभावना है। परंपरागत और नई विधियों में इस प्रौद्योगिकी का संभावित उपयोग इस प्रकार है:

- जैव प्रौद्योगिकी का संसाधित और गैर-संसाधित खाद्य पदार्थों के अभिमूल्यन, उन्हें सुरक्षित रखने व गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, आनुवंशिक इंजीनियरी से ऐसे टमाटर विकसित किए गए हैं, जो पकने पर कड़े रहते हैं तथा जिन्हें कम ताप पर संसाधित किया जा सकता है। ऐसे टमाटर डिब्बाबंदी के लिए बहुत उपयुक्त होते हैं।

- फार्म-उत्पादों का खाद्य-स्तर पर इस्तेमाल बढ़ाया जा सकता है और इस प्रकार बाजार मूल्य बढ़ सकता है।

- फार्म-उत्पादों, विशेषकर उन उत्पादों के लिए नए उपयोग खोजे जा सकते हैं, जो मौसम में बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं। इसका एक उदाहरण कसावा और गन्ने से एथेनॉल का उत्पादन है।

- स्पाइरूलिना अथवा क्लोरेला- जैसे शैवालों को संवर्धित करके उनसे बड़े पैमाने पर प्रोटीन प्राप्त करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

- एन्जाइमों का उत्पादन व्यापारिक पैमाने पर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, चीज़ (मक्का-पनीर) तैयार करने के लिए इस्तेमाल होने वाला 'काइमोसिन' साधारणत: गाय से प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन इसे विशेष प्रकार की जीनी प्रक्रमों से विकसित सूक्ष्मजीवों से भी तैयार किया जा सकता है। शीरे तथा अन्य कृषि संसाधनों से एमीनों अम्लों से खाद्य तथा पशु-चारे के पोषक गुण बढ़ाए जा सकते हैं।

- सूक्ष्म जैविक विशिष्ट रोगाणुओं की ठीक-ठीक पहचान के लिए नए 'प्रोब' विकसित किए जा सकते हैं।

- संश्लेषित एन्जाइम तथा पादप ऊतक संवर्धन प्रक्रमों-जैसी नई प्रक्रियाओं के उपयोग द्वारा उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है। चीन और भारत में सामान्यत: महिलाओं द्वारा उपयोग में लाया जाने वाला गर्भ-निरोध इसका एक उदाहरण है।

विकासशील देशों के विशेष संदर्भ में प्रासंगिक मुद्दे और चिंता के विषय

नई जीव प्रौद्योगिकी को कृषि, वानिकी और मात्स्यिकी के विकास के साधन की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यद्यपि इनका औषधियों, निदान तथा मानव स्वास्थ्य में महत्वपूर्ण योगदान हो रहा है, लेकिन कृषि तथा संबद्ध क्षेत्रों में इनकी क्षमताओं का अभी पर्याप्त उपयोग नहीं हो रहा है। इन विधियों का उपयोग मुख्यत: ऐसे उत्पादों के विकास तक सीमित है जिनका बाजार सुनिश्चित है तथा जिनसे अधिक लाभ कमाया जा सकता है। निर्धन लोगों की आवश्यकताओं की अनदेखी की जा रही है तथा विकासशील देशों में आधुनिक जैव प्रौद्योगिकी का उपयोग कुल मिलाकर फिलहाल सीमित है।

उत्पादों तथा प्रौयोगिकियों का पूरा लाभ तभी उठाया जा सकता है जब बुनियादी ढांचे, मार्गदर्शक विनियमों, वित्त तथा लोक-नीतियों का सही निर्धारण हो। कोई प्रौद्योगिकी उसी परिवेश में सफल होती है जिसकी सामाजिक और आर्थिक नीतियां उसे सहायता देने के लिए तैयार की जाती है। इसके अलावा उत्पाद तथा प्रौद्योगिकी, विकसित तथा विकासशील देशों में किसानों, वनपालकों, मछुआरों तथा अन्य वास्तविक उपयोगकर्ताओं को सुलभ होनी चाहिए। साथ ही जैव प्रौद्योगिकी के उपयोग से होने वाले विकास को पर्यावरण को सुरक्षित बनाने में भी सहायक होना चाहिए।

आधुनिक जैव प्रौद्योगिकी के विकास तथा उपयोग संबंधी आधुनिक प्रवृत्तियों से कई सामाजिक, आर्थिक, संस्थागत, पर्यावरण संबंधी और राजनीतिक मुद्दे सामने आए हैं। इनमें से प्रमुख हैं-बौद्धिक संपदा की सुरक्षा, अपर्याप्त अनुसंधान व संस्थागत सहायता, जैव सुरक्षा और पर्यावरण संबंधी अन्य पहलू।

बौद्धिक संपदा की सुरक्षा

बौद्धिक संपदा का प्रबंधन ऐसा प्रमुख उभरता हुआ मुद्दा है जो जैव प्रौद्योगिकी के विकास, उपयोग और प्रसार को प्रभावित कर रहा है। अधिकांश देशों, विशेषकर विकसित देशों में बौद्धिक संपदा अधिकारों का प्रारंभन किया गया है जिससे निजी क्षेत्रों में प्रतिदान को सुरक्षा के साथ-साथ अनुसंधान व विकास को बढ़ावा मिलता है। इनके अंतर्गत नई खोजों का खुलासा करने पर प्रोत्साहन देने का भी प्रावधान है।

यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि बौद्धिक संपदा अधिकार का सकारात्मक प्रभाव है, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जिनसे विकासशील देश जैव प्रौद्योगिकी का पूरा लाभ नहीं उठा पाते हैं। बहुराष्ट्रीय तथा बहुपक्षीय निगम, जैव प्रौद्योगिक अनुसंधान तथा इसके परिणामों पर अपना नियंत्रण करके, पेटेन्ट व लाइसेंस के द्वारा अपना अधिकार बढ़ाते जा रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय बाजारों में प्रतिस्पर्धा में सुधार लाने के लिए औद्योगिक देशों को बौद्धिक संपदा अधिकारों को लागू करने के अंतरराष्ट्रीय प्रयासों को आगे लाना होगा।

अपर्याप्त अनुसंधान और संस्थानों द्वारा प्रोत्साहन

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जैव प्रौद्योगिकी में अनुसंधान और प्रौद्योगिकी का विकास करना बहुत अधिक महंगा है। साथ ही इसके लिए उच्च प्रशिक्षित व्यक्तियों और आधुनिक संचार तंत्र की आवश्यकता होती है। विशेषज्ञों व अनुसंधान तथा विकासात्मक ढांचे की कमी तथा उपयुक्त नीतियों, कौशलपूर्ण योजनाओं, विशेषज्ञता पर आधारित यांत्रिकता के न होने के कारण

अधिकांशत: विकासशील देश जैव प्रौद्योगिकी में निहित पूर्ण संभावनाओं का लाभ उठाने में असमर्थ हैं। अन्य तथ्य जैसे समय पर ऋण की उपलब्धता, निवेश और विस्तार सेवाएं, विपणन और उचित कीमत निर्धारण आदि जैव प्रौद्योगिकी के लिए ऐसी आर्थिक परिस्थितियां हैं, जो किसी भी नई प्रौद्योगिकी को अपनाने के लिए जरूरी हैं। इसके साथ ही अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां भी संबद्ध हैं। अनेक विकासशील देशों में निजी क्षेत्रों की भागीदारी में कमी या इसके सरकारी क्षेत्रों से संपर्क के कारण जैव प्रौद्योगिकी के अविवेकपूर्ण इस्तेमाल की समस्या बढ़ी है। नीति-निर्माताओं की तकनीकी संभावनाओं के विषय में जागरूकता और जैव प्रौद्योगिकी के इस्तेमाल की आवश्यकता का मूल्याकंन इसकी सुलभता के अवसर बढ़ाते हैं। अधिकाशं उच्च औद्योगिक देशों में आधुनिक ज्ञान और उसके प्रयोग से जैव प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल निरंतर होता रहेगा। इसलिए विकासशील देशों के सम्मुख जैव प्रौद्योगिकी में हुई प्रगति की जानकारी रखना और प्रौद्योगिक विकास में अपना उचित योगदान देना एक चुनौती है।

अनेक विकासशील देशों में अनुसंधान व प्रौद्योगिकी विकास को व्यावसायिक रूप देना कठिन होता है। इन देशों के व्यावहारिक अनुसंधान और प्रौद्योगिकी अंतरण पर अधिक से अधिक ध्यान देना होगा। साथ ही उपयुक्त विशेषज्ञों, आधारभूत ढांचे और प्रौद्योगिकी के प्रयोग को बढ़ावा देने वाले संस्थानों का विकास करना होगा। वैज्ञानिक प्रयास से लेकर बाजार तक उपयोगी परिवर्तन लाना होगा, विस्तृत क्षमताओं और संस्थानों को स्थापित करना होगा और जैव प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विशिष्ट योग्यताओं के विकास, अभियांत्रिकी, बाजार विश्लेषण आदि मुद्दों को प्रवर्धित करने पर विशेष ध्यान देना होगा।

विकासशील देशों व विकसित देशों के बीच जैव प्रौद्योगिकी की क्षमताओं पर बहुत मतभेद है। इन मतभेदों का प्रभाव विकासशील देशों के उन क्रियाकलापों पर पड़ेगा जो वे स्वयं कर रहे हैं या जैव प्रौद्योगिकी के आगामी विकास के लिए उपयोग व विस्तृत सहायता प्राप्त करके कर रहे हैं। अंतरराष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने के लिए उन नीतियों व मानदंडों का विकास; जो सहकारी देशों की शक्ति व दुर्बलताओं पर आधारित हैं, विकासशील देशों तथा विकसित देशों की तकनीकी सहकारिता की भावना से होना चाहिए।

जैव सुरक्षा व अन्य पर्यावरणीय पक्ष

जैव प्रौद्योगिकी की भूमिका व प्रयोग को प्रभावित करने वाला मुख्य मुद्दा है आनुवंशिक रूप से परिशोधित जीव की सुरक्षा और अनुसंधान के लिए नियामक उपाय तथा आनुवंशिक रूप से परिशोधित जीवों का क्षेत्र परीक्षण और व्यवसायीकरण। इस बात का डर है कि आनुवंशिक रूप से परिशोधित जीवों के अनियंत्रित निर्गमन से पारिस्थितिक या आनुवंशिक संतुलन में परिवर्तन हो सकता है। इस मुद्दे पर बहुत-सी राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं तथा संयुक्त राज्य राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, संयुक्त राज्य कांग्रेस का प्रौद्योगिकी मूल्यांकन कार्यालय, यूरोपियन कमीशन, आर्थिक सहकार व विकास संगठन, आस्ट्रेलियन रिकॉम्बीनेन्ट डी.एन.ए. मॉनिटरिंग कमेटी, यूनाइटेड किंग्डम रॉयल कमीशन ऑन एनवायरन्मेन्टल पॉल्यूशन और यूनाइटेड नेशन्स एनवायरनमेन्ट प्रोग्रामों में विचार किया गया। उनका विचार था कि प्रौद्योगिकी सुरक्षित है। इन संगठनों द्वारा किए गए अध्ययनों व संयुक्त राज्य अमेरिका में किए गए क्षेत्र परीक्षणों से यह निश्चित हो गया है कि पर्यावरणी निर्गमों के उपयुक्त नियंत्रण और उचित योजना के साथ-साथ पराजीनी जीवों के सावधानी से प्रारूप तैयार करने से आनुवंशिक रूप से परिशोधित जीवों से पर्यावरण को खतरे की संभावना कम है या बिल्कुल नहीं है। जैव सुरक्षा संबंधी पहलू मुख्यत: राष्ट्रीय निर्णयों के आधार पर तय किए जाने हैं।

सामाजिक समानता

जैव प्रौद्धगिकी की नई तकनीकों के सृजन और अनुसंधान के लिए निश्चित रूप से अधिक धन तथा उच्च प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता होगी जो विकसित देशों में सरलता से सुलभ हैं। किसी नई प्रौद्योगिकी की तरह जैव प्रौद्योगिकी से भी निर्धनों की अपेक्षा समृद्ध लोगों को अधिक लाभ हो सकता है जो इसके विकास व प्रबंध की स्थिति लागू करने के क्षेत्र तथा जहां लागू किया जाना है वहां की सामाजिक, आर्थिक स्थितियों पर निर्भर करता है। इससे संबंधित अधिकांश अनुसंधान निजी क्षेत्र में किए जा रहे हैं जिसका अर्थ है कि कौन-से अनुसंधान किए जाएं, इसका निर्णय बाजार की मांग तथा लाभ की क्षमता के आधार पर किया जाएगा। अत: संभावना यह है कि अधिकांश नई प्रौद्योगिकियां, प्रक्रियाएं तथा उत्पाद पहले औद्योगिक उत्पादों के लिए उपलब्ध होंगे। अधिकांश विकासशील देशों में अपर्याप्त वैज्ञानिक विशेषज्ञता तथा संसाधनों के अभाव में इस प्रकार के उपाय उपलब्ध नहीं हैं; लेकिन इस अंतर को समाप्त करने के लिए राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किए जा रहे हैं। इसके अलावा ठोस तथा समेकित वैज्ञानिक मूल्यांकन के आधार पर प्रक्रियाओं को लागू करने, विकसित करने तथा उनमें तालमेल बिठाने के लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रयासों की आवश्यकता है ताकि सभी देश अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत जैव सुरक्षा के उपायों को अपना सकें और तर्कसंगत निर्णय ले सकें। अत: राष्ट्रीय सरकारों को उपयुक्त नीतियां, नियम व विनियम बना कर उन्हें लागू करना चाहिए। अनुसंधान, विमोचन तथा निगरानी से संबंधित नियम, विनियम और मार्गदर्शक सिद्धांत पहले से ही उपलब्ध व व्यावहारिक हैं जिन्हें अधिकाशं औद्योगीकृत देशों में प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है।

विकासशील देशों में निर्यात के विकल्प

जैव प्रौद्योगिकी से प्राप्त उन उत्पादों और तकनीकों को अपनाना चाहिए जो आम उपयोग की हों। समय के साथ-साथ विकसित और विकासशील देशों में नई प्रौद्योगिकियों की उपलब्धता और उन्हें अपनाने में अंतर कम होगा, निर्धन देशों में कृषि के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा में कमी आएगी और विशेषकर जब अधिक से अधिक अतिरिक्त उत्पादन होगा तो बाजारों में प्रतिस्पर्धा कम होगी।

जैव प्रौद्योगिकी से निर्धनों को भी सहायता प्रदान की जा सकती है। इससे नई औद्योगिक, औषधीय तथा सगंधीय फसलों के प्रजनन द्वारा नया बाजार बनाया जा सकता है। अपनी विविध देशी जैव विविधता के आधार पर ब्राजील, चीन और भारत-जैसे देश जैव प्रौद्योगिक उत्पादों का उत्पादन कर सकते हैं। जैव उर्वरकों, कीटों के जैविक नियंत्रण तथा रोगाणुओं की पहचान और उनके जैविक नियंत्रण के लिए जैव प्रौद्योगिक तकनीकों का उपयोग संसाधन की दृष्टि से निर्धन किसानों के लिए विशेष रूप से उपयोगी होगा। लेकिन इनके अंतरण के लिए उच्च गुणवत्ता के प्रबंध की आवश्यकता होगी जिसके लिए प्रशिक्षण व प्रसार क्रियाओं में पूरक और अनुकूल परिवर्तन लाने होंगे।

नैतिक तथा कानूनी पहलू

विकास की दृष्टि से जैव प्रौद्योगिकी की उच्च क्षमताओं के बावजूद अवास्तविक जीवों से प्राप्त जीनों के उपयोग से फसलों और पशुधन के आनुवंशिक फेरबदल से मानव स्वास्थ्य तथा जैव सुरक्षा संबंधी कई नैतिक मुद्दे उत्पन्न हुए हैं। औद्योगिक तथा विकसित देशों में व्यापक वाद-विवाद में इस तथ्य पर विचार किया जाता है कि जीवन के उच्च स्वरूपों तथा आनुवंशिक सामग्री को पेटेन्ट करने से कई अस्वीकार्य नैतिक मूल्य तथा सामाजिक व आर्थिक स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं। अधिकाशं विकासशील देश अपने यहां के पौधों, प्राणियों या अन्य आनुवंशिक घटकों की इजाजत इसलिए नहीं देते हैं कि इन सबका खाद्यान्न की अपूर्ति में विशेष महत्व है। दूसरी ओर अन्य लोग पेटेन्ट को प्रौद्योगिक विकास की एक आवश्यक प्रक्रिया मानते है।

जैव प्रौद्योगिकी की उपयोगिता और उपयोग के परिप्रेक्ष्य में जो भिन्नता है वह कृषि और आर्थिक विकास, अनुसंधान तथा प्रौद्योगिकी की क्षमता के स्तर आदि के कारण है। जैव सुरक्षा तथा सचेतन जीवों व उनकी आनुवंशिक सामग्री को पेटेन्ट करने से संबंधित अनेक तकनीकी व कानूनी समस्याएं अभी अनसुलझी हैं। स्पष्ट रूप से जैव-प्रौद्योगिकी में विज्ञान एवं इंजीनियरी के सिद्धांतों के उपयोग एवं जैविक कारकों की सहायता से उपयोगी उत्पादों और सेवाओं को उपलब्ध कराया जाता है।

इसके अलावा, मनुष्य का लगातार प्रयास रहा है कि सूक्ष्मजीवों में एकदम नई एवं अति उपयोगी क्षमताएं उत्पन्न की जा सकें। पुनर्योगज DNA तकनीक द्वारा किसी भी जीव से मनचाहे जीन को किसी अन्य जीव में अंतरित किया जा सकता है। इस विधि के उपयोग से सूक्ष्मजीवों तथा अन्य जीवों, जैसे, जंतु, पादप आदि में सर्वथा नई, अभूतपूर्व एवं बहुमूल्य क्षमताओं का विकास किया गया है। उदाहरणार्थ मानव इंसुलिन कोडित करने वाले जीन को ई. कोलाई जीवाणु में अंतरित किया गया है जिससे यह जीवाणु मानव इंसुलिन के उत्पादन में सक्षम हो गया है। इस पुनर्योगज ई. कोलाई द्वारा उत्पादित इंसुलिन का मधुमेह के इलाज में उपयोग हो रहा है। इसके अलावा, पात्रे संवर्धित पादप एवं जंतु कोशिकाओं से उपयोगी उत्पादों की प्राप्ति, जीवों से प्राप्त इन्जाइमों का व्यापारिक उत्पादनों में उपयोग आदि जैव-प्रौद्योगिकी के उदाहरण हैं।

इस प्रकार जैव-प्रौद्योगिकी में एक ओर सूक्ष्मजीवों के उपयोग से सस्ते एवं सुलभ पदार्थों का उत्पादन किया जाता है, जैसे शर्करा आदि से ऐल्कोहॉल, एमीनों अम्ल आदि, तो दूसरी ओर अत्यंत कठिन एवं जटिल प्रक्रमों, जैसे पुनर्योगज DNA प्रौद्योगिकी, एन्जाइम प्रौद्योगिकी एवं एन्ज़ाइम इंजीनियरी आदि के उपयोग से उत्पादों का निर्माण किया जाता है। कई लोग जैव-प्रौद्योगिकी को पुनर्योगज DNA प्रौद्योगिकी पर आधारित उत्पादन विधियों तक ही सीमित रखना चाहते है। परंतु यह दृष्टिकोण तो वैसे ही हुआ जैसे किसी मनुष्य के व्यक्तित्व को उसके चेहेरे की सुंदरता का पर्याय मान लिया जाए।

अत: प्रत्येक देश को जैव प्रौद्योगिकीय विकास से संबंधित विभिन्न नियमों के प्रभावों का सावधानी से मूल्यांकन करना होगा। जैव प्रौद्योगिकी से संबंधित मुद्दों पर उपयुक्त और कारगर कानूनी रूपरेखा तैयार की जानी चाहिए ताकि नई तकनीकों और उत्पादों का संतुलित उपयोग सुनिश्चित हो सके। कीटनाशियों के सुरक्षित और कारगर उपयोग, तथा संगरोध संबंधी सिद्धांतों व उत्पादों में एकरूपता लाने के अपने अनुभव के आधार पर खाद्य एवं कृषि संगठन एक ऐसा अंतरशासकीय निकाय हो सकता है जो अपने सदस्य देशों को आवश्यक कानूनी मार्गदर्शक नियम बनाने में सहायता पहुंचा सकता है। भारत को चाहिए कि इन सिद्धातों और नियमों को ध्यान में रखते हुए ऐसा रास्ता निकाले जिससे कृषि उत्थान में जैव प्रौद्योगिकी का समुचित उपयोग हो सके।

❑

2

भूमंडलीय तापन का कृषि उत्पादन पर प्रभाव

-डॉ.भूपेंद्रराय*

देश में कृषि उत्पादन की सफलता बहुत कुछ तो सामान्य मानसून एवं अनुकूल मौसम पर निर्भर करती है। तभी तो किसान जब कभी जहां कहीं भी आपस में मिलते हैं तो अक्सर वे मौसम की, फसलों की एवं उनसे मिलने वाली कीमतों की बातें जरूर करते हैं। खेती के लिए अनुकूल मौसम न होने या मानसून के देरी से आने से उन्हें बहुत चिंता होती है। हाल के वर्षों में जंगलों के बड़े स्तर पर काटे जाने, वाहनों द्वारा छोड़े जाने वाले धुओं द्वारा ग्रीन हाउस गैसों के पर्यावरण में बड़ी मात्रा में छोड़े जाने से जलवायु में तब्दीली आई है। पृथ्वी की सतह पर गर्मी बढ़ रही है। असामान्य बरसात के चलते, कृषि, उद्योग एवं घरेलू इस्तेमाल के लिए, एक तरफ तो पानी की कमी, तो दूसरी तरफ तेज़ झंझावात, बाढ़ तथा समुद्र के स्तर में वृद्धि हो रही है। जहां तक कृषि उत्पादन का सवाल है, पृथ्वी पर गर्मी के बढ़ने तथा असामान्य वर्षा से देश में गेहूं का उत्पादन गिर सकता है तथा तेज़ी से बढ़ रहे निर्यात हेतु बासमती चावल, फलों, सब्जियों एवं औषधीय पौधों के उत्पादों की गुणवत्ता पर भी बुरा असर पड़ सकता है। प्रस्तुत आलेख में जलवायु परिवर्तन के नज़रिए से बढ़ती गर्मी (भूमंडलीय तापन) के पड़ते प्रभाव, ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन की स्थिति इसके प्रबंधन, बदलती जलवायु एवं भूमंडलीय तापन के कृषि उत्पादन पर पड़ते प्रभाव के साथ ही देश में उपलब्ध वर्षा जल के प्रबंधन की व्याख्या की गई है जिससे देश के वर्तमान कृषि उत्पादन में और भी बढ़त हासिल की जा सके।

भूमंडलीय तापन का प्रभाव

भूमंडलीय तापन (ग्लोबल वार्मिंग) मूलत: तो उस बढ़ते औसत गर्मी के स्तर को कहते हैं जिससे पृथ्वी पर रहने वाले जीवधारी प्रभावित होतें हैं। बढ़ती गर्मी का यह स्तर, मूलत: ग्रीन हाऊस गैसों (जी.एच.जी) के वातावरण में उत्सर्जन की वज़ह से होता है। धरती के पर्यावरण की गर्मी को बढ़ाने में ग्रीन हाऊस गैसों में से, कार्बन डाई-ऑक्साइड (CO_2) का योगदान लगभग 49 प्रतिशत, मेथेन (CH_4) का 18 प्रतिशत, नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O) का 6 प्रतिशत, क्लोरोफ्लुओरो कार्बनों का 14 प्रतिशत, अन्य गैसों (ओजोन, कार्बन मोनोऑक्साइड आदि) का कुल मिलाकर 13 प्रतिशत योगदान होता है। इन गैसों के उत्सर्जन में लगभग 21.3 प्रतिशत विद्युत् संयत्रों में कोयले को जलाने का योगदान होता है औद्योगिक कारखानों के धुएं से लगभग 16.8 प्रतिशत, वाहनों से निकलते धुएं से लगभग 14.0 प्रतिशत, उर्वरक तथा सीमेन्ट के कारखानों के धुएं से लगभग 12.5 फ़ीसदी, धान के खेतों में जीवांश के सड़ने तथा भेड़, बकरियों एवं दुधारू जानवरों से 10.0 प्रतिशत तथा इसी प्रकार के अन्य स्रोतों से लगभग 25.4 प्रतिशत योगदान रहता है। इन

* पूर्व प्राध्यापक एवं संकायाध्यक्ष, कृषि विज्ञान संस्थान, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; 115, महामनापुरी कॉलोनी विस्तार, आई.टी.आई. रोड, पोस्ट आफिस : बी.एच.यू., वाराणसी-221005 (उ.प्र.)

गैसों में भी क्लोरोफ्लुओरो कार्बन तथा मेथेन गैस, कार्बन डाइऑक्साइड की तुलना में काफी अधिक मात्रा में गर्मी को ज़ज़्ब करती, बढ़ाती तथा स्थिर रखती है।

जब से गर्मी के स्तर की विधिवत् यांत्रिक परिकलन चल रहा है, तब से लेकर अब तक, विगत 13 वर्षों के 11 वर्षों (1995 से 2006) के बीच का समय सबसे गर्म समय तथा वर्ष 2005 को सबसे अधिक गर्म वर्ष कहा जाएगा। वर्ष 1850 से 1899 तथा 2001-2005 के बीच कुल गर्मी के स्तर में 0.76 डिग्री सेन्टीग्रेड की वृद्धि हुई है। इस शताब्दी के अंत तक विश्व के पृथ्वी के सतह की गर्मी में अनुमानत 5 प्रतिशत की वृद्धि तथा आने वाले दो दशकों में, गर्मी के स्तर के प्रति दशक के हिसाब से 0.2 डिग्री से.ग्रे. की दर से बढ़ने की आशंका है। वर्ष 1980-99 के बीच के सापेक्ष, ताप में यदि 1.5 डिग्री से.ग्रे. गर्मी में और भी बढ़ोत्तरी होती है तो पृथ्वी की लगभग 30 प्रतिशत जातियों (स्पीसीज़) के विलुप्त होने का खतरा भी पैदा हो सकता है। गर्मी के स्तर में वृद्धि के चलते दुनिया भर में बर्फ से ढकी परतें अब तेजी से पिघल रही है जिससे समुद्री जल स्तर भी बढ़ रहा है। अनुमानत: वर्ष 1961 से 2003 (याने 42 वर्षों) के बीच समुद्र में जल का स्तर औसतन प्रतिवर्ष 1.8 प्रतिशत की दर से बढ़ा है। इसमें भी वर्ष 1993 से 2003 (10 वर्षों) के बीच में तो कुछ अधिक (3. 1 मिलीमीटर या सामान्य से लगभग दुगुनी गति) से बढ़ा है। यदि यही हालत रही तो वर्ष 2050 तक बंगलादेश-जैसे देश के समुद्री तटवर्ती भाग का लगभग 18 प्रतिशत निचला क्षेत्र समुद्री पानी में डूब जाएगा, मालद्वीप-जैसे देश का अस्तित्व ही खतरे में पड़ेगा तथा वर्ष 2080 तक लगभग 27 देशों के 30 मिलियन लोगों को सुरक्षित स्थानों की शरण लेनी पड़ेगी।

ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन की मात्रात्मक स्थिति

वर्ष 2002 में किए गए एक सर्वेक्षण के मुताबिक अपना देश विश्व स्तर पर ग्रीन हाऊस गैसों को उत्सर्जित करने वाला दुनियां का छठवाँ सबसे बड़ा देश था। दूसरे बड़े उत्सर्जन करने वाले देश थे संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, जापान, यूरोपीय संघ के देश तथा चीन। वर्ष 1998 के दौरान देश ने अनुमानत: पर्यावरण में 908 मी.ट. कार्बन डाइऑक्साइड उत्सर्जित करे जो उस समय दुनियां के इन गैसों के कुल उत्सर्जन का लगभग 4 प्रतिशत भाग का था। हांलाकि, प्रति व्यक्ति के उत्सर्जन के नजरिये से यह अपेक्षाकृत कुछ कम (0.93 मी.ट.) का था जबकि विश्व स्तर पर औसत उत्सर्जन का यह स्तर 3.80 मी.ट. (याने अपने देश से 2.87 मी.ट. अधिक का) था। लेकिन मौजूदा समय में विश्व औसत वाले 2 प्रतिशत की तुलना में प्रति व्यक्ति उर्त्सजन का यह स्तर 4.6 प्रतिशत की दर से बढ़ रहा है। मौजूदा आर्थिक विकास दर के हिसाब से तो वर्ष 2020 तक यह और भी बढ़ सकता है फिर भी उस समय तक भी यह पूरे विश्व के कुल उत्सर्जन की मात्रा का लगभग 5 प्रतिशत भाग हो सकता है।

ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन की मात्रा सामान्यत: तो आर्थिक विकास दर तथा ऊर्जा की जरूरतों से ही जुड़ी हुई होती है। देश का बढ़ता औद्योगिकीकरण तो इसे बढ़ाएगा ही। यदि जनसंख्या की वृद्धि पर प्रभावी अंकुश न लग सका तो बिना पर्यावरण के सुधारों तथा कृषि उत्पादन को बढाए बगैर देश के 110 करोड़ लोगों को भरपूर, बढ़िया, संतुलित भोजन मुहैया करना तथा ऊंचा जीवन स्तर उपलब्ध करना अभी संभव नहीं जान पड़ता।

ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करने की कार्य योजना

बड़ा ही साहस करके 30 जून 2008 को सरकार ने जलवायु परिवर्तन तथा भूमंडलीय तापन को नियंत्रित करने के लिए बहुप्रतीक्षित राष्ट्रीय जलवायु परिवर्तन कार्य योजना को जारी किया। इस 8 सूत्रीय कार्ययोजना में, लंबे समय में ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करने का लक्ष्य रखा गया है। इन 8 सूत्री कार्ययोजना में, अन्य मिशनों के साथ, प्रमुख रूप से 'ग्रीन इंडिया

मिशन' 'सौर ऊर्जा मिशन', 'जल मिशन,' 'ऊर्जा उपयोग दक्षता मिशन' 'संधारणीय कृषि मिशन' तथा 'जलवायु परिवर्तन ज्ञान मिशन' रखे गए हैं।

इस समय अपने देश के विकास के लिए, ऊर्जा की बढ़ती जरूरतें, ज्यादातर तो जीवाश्मी ईंधन, (फॉसिल फ्यूअल) अर्थात कोयले, खनिज तेल द्वारा ही पूरी होती है। इसमें कोयले से लगभग 31 प्रतिशत तथा खनिज तेल (पेट्रोल, डीजल, प्राकृतिक गैस आदि) द्वारा लगभग 27 प्रतिशत ऊर्जा आपूर्ति होती है। ऊर्जा उत्पन्न करने में, कोयले पर आधारित ऊर्जा संयत्रों से कुल जरूरत की 60 प्रतिशत ऊर्जा, जल विद्युत् ऊर्जा से लगभग 24 प्रतिशत, गैस पर आधारित ऊर्जा सयंत्रों से कुल 6 प्रतिशत, सौर तथा वायु ऊर्जा से 7 प्रतिशत तथा नाभिकीय ऊर्जा से लगभग 3 प्रतिशत ऊर्जा प्राप्त होती है। यूरोप में, फ्रांस एक ऐसा देश है जहां बिजली की लगभग 70 फीसदी जरूरत अब नाभिकीय ऊर्जा से प्राप्त होती है। ऐसी उम्मीद की जा रही है कि अपने देश में भी, इंडों-यू.एस.ए. एग्रीमेन्ट के अब लागू होने से देश को नाभिकीय ऊर्जा उत्पन्न करने में सहायता मिलेगी। देश को अब वैसे जीवाश्मी ईंधन पर ज्यादा निर्भर रहने की बजाए कुल जरूरत की ऊर्ज़ा उत्पन्न करने में ऊर्जा उत्पादन के कुछ नए स्वच्छ ऊर्जा उत्पादन विकल्पों को भी बढ़ावा देना चाहिए।

स्वच्छ ऊर्ज़ा उत्पादन

- देश में हरे भरे जंगल वातावरण से काफी मात्रा में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा को ज़ज़्ब करते हैं तथा साथ ही प्राणदायी ऑक्सीजन की मात्रा को छोड़ते हैं। शुरुआती दौर में सरकार ने लगभग 6000 करोड़ रुपयों का निवेश कर लगभग 6 मिलियन हेक्टेयरों से विरल तथा क्षीण जंगलों के क्षेत्रफल में नए, उपयोगी सघन वन वृक्षों को लगाने का निश्चय किया है। देश में अब लक्ष्य के मुताबिक, 33 प्रतिशत क्षेत्र को जंगलों से आच्छादित करने के प्रयास चल रहे हैं। वर्तमान समय में, जंगलों एवं वृक्षों से आच्छादित क्षेत्र, इससे कुछ कम (लगभग 23 प्रतिशत) ही हैं।

- पेट्रोल एवं डीजल की बढ़ती कीमतों के परिप्रेक्ष्य में सौर ऊर्जा तथा पवन ऊर्जा पैदा करने वाले संयंत्रों का लगाया जाना अब लाभकारी प्रतीत हो रहा है। राजस्थान के शुष्क एवं रेगिस्तानी क्षेत्र, जहां वर्ष भर सूरज की पर्याप्त रोशनी मिलती है, वहां का सार्थक उपयोग अब सौर ऊर्जा पैदा करने में किया जा सकता है। देश में पवन ऊर्जा द्वारा प्रति वर्ष लगभग 8000 मेगावाट स्तर की ऊर्जा वैसे मिल रही है। अपना देश अब दुनिया का चौथे नंबर का सबसे बड़ा पवन ऊर्जा पैदा करने वाला देश बन गया है।

- देश में अब नौ राज्यों ने ऐसे कानून बनाए हैं, जिसके तहत गैसोलीन में 5 प्रतिशत तक गन्ने के शीरे से प्राप्त एथेनॉल का मिश्रण कर उपयोग में लाया जा सकता है। देश के 26 राज्यों में जैट्रोफा (जैट्रोफा क्यूरकास) एवं पोंगामिया झाड़ से व्यावसायिक जैव डीजल पैदा करने के लिए बड़े स्तर पर पौध रोपण का कार्य किया जा रहा है जिससे बड़ी मात्रा में उपयोग के लिए जैव डीजल पैदा किया जा सके।

- श्री राज चेनगप्पा (2008) के मुताबिक, यदि ईंधन उपयोग की दक्षता पर ध्यान दिया जाए तो देश में 605 मी.ट. गैसों के उत्सर्जन को कम किया जा सकता है तथा अब यदि कंपैक्ट प्रतिदीप्त (सी.एफ.एल.) बल्बों का बड़े स्तर पर घरों में उजाला करने के लिए उपयोग किया जाए तो देश में 10,000 मेगावाट तक की बिजली की बचत की जा सकती है।

इस मामले पर क्या सोचते हैं दुनिया के देश?

वर्ष 1997 में जापान के क्योटो शहर में 150 देशों ने

तथा नवंबर 2005 में मॉन्ट्रियल शहर में 189 देशों के प्रतिनिधियों ने मिलकर विचार-विमर्श किया तथा यह तय किया कि वर्ष 1990 की तुलना में वर्ष 2012 तक ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में 5 फीसदी की कमी की जाए तथा वर्ष 2030 तक पर्यावरण में कार्बन डाइऑक्साइड का स्तर 445 पी.पी.एम. (पार्ट पर मिलियन) या इसके समकक्ष स्थिर हो। पर इस प्रोटोकोल (नयाचार दस्तावेज़) पर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया ने दस्तखत नहीं किए। कारण कि खुद ये देश बड़ी मात्रा में इन गैसों का उत्सर्जन करते हैं। वर्ष 2030 तक इन गैसों को इस स्तर पर लाने में इन्हें अपने (जी.डी.पी) का एक अच्छा खासा भाग लगाना पड़ सकता है जिसके लिए वे अभी तैयार नहीं हैं। इन देशों का यह भी कहना है कि जब तक तेजी से आर्थिक विकास करते देश चीन तथा भारत भी अपने उत्सर्जन के स्तर में आवश्यक रूप से कटौती नहीं करते, ये देश इस पर अमल नहीं कर सकते। जैसा कि पहले ही का जा चुका है अमेरिका की तुलना में, भारत लगभग 20 गुना इन गैसों का कम उत्सर्जन करता है। अमेरिका जिसकी आबादी, विश्व की कुल आबादी की महज 5 फीसदी की ही है, अकेले अब विश्व के ग्रीन हाउस गैसों का लगभग 18 प्रतिशत उत्सर्जन करता है। इस देश का प्रति व्यक्ति कार्बन डाई ऑक्साइड उत्सर्जन स्तर, विश्व औसत (अर्थात 4.25 मी. ट.) की तुलना में 20 मी. ट. आंका गया है जब कि भारत में यह लगभग एक मी. ट. ही है।

भूमंडलीय तापन एवं अनियमित मानसून का हमारी कृषि पर पड़ने वाला प्रभाव

अपनी प्रमुख खाद्यान्न वाली फसलों में, गेहूं के पौधे धान के पौधों की तुलना में, वातावरण में बढ़ती गर्मी के प्रति कुछ ज्यादा ही संवेदनशील होते हैं। गर्मी के प्रति धान के पौधों की सहयता एवं पारिस्थितिक दशाओं के प्रति अनुकूलता, गेहूं के पौधों की तुलना में कुछ बेहतर होती है। यदि गर्मी की वृद्धि एक डिग्री सेल्सियस भी देश में बढ़े तो इससे देश के गेहूं के कुल उत्पादन में 4 से 5 मी. ट. का नुकसान हो सकता है। यदि उत्पादन के अनुकूल ताप सही न रहे, बराबर बढ़ता रहे तो ऐसा अनुमान है कि इस देश में अनाजों का कुल उत्पादन 124 मी. ट. तक गिर सकता है (एफ.ए.ओ.)। मानसून के देरी से आने तथा साथ ही जल्दी खतम होने की वजह से, फसलों के बोआई की तिथियां बदल रही हैं। कम नमीं में पौधों की बढ़ोतरी ठीक से नहीं होती, बालियों में दाने अच्छी तरह से नहीं भरते। अंततः दानों की कुल पैदावार गिर जाती है। वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा की अधिकता के कारण कुछ नए कीटों, पादप-रोग तथा खर पतवारों की भी अधिकता देखी जा रही है। स्थिति में सुधार के लिए अब संधारणीय टिकाऊ खेती को राष्ट्रीय मिशन के रूप में देखा जा रहा है तथा अब शुष्क एवं वर्षाधीन कृषि, खेती में जोखिम प्रबंधन, लाभकारी कृषि तकनीकों के तेजी से हस्तांतरण तथा कृषि में जैव प्रौद्योगिकी के लाभकारी उपयोग पर पहले से ज्यादा जोर दिया जा रहा है।

जैवप्रौद्योगिकी का उपयोग कर लवण प्रतिरोधिता वाले जीन को समुद्री तटों पर उगने वाले पौधे मैन्ग्रूव (एबीसीनिया मैरिना) से निकाल कर (डॉ. एम.एस. स्वामिनाथन रिसर्च फाउंडेशन, चेन्नई में) इसे धान, दलहन तथा समुद्री तटवर्ती किसानों के लिए उपयोगी अन्य पौधो/फसलों में डाले जा रहे है। इसी तरह, जैव प्रौद्योगिकीय विधियों द्वारा शुष्कता-रोधी पौधे (प्रोसोपिस जूली-फ्लोरा) से शुष्कता, ऊष्मा-प्रतिरोधी जीन को निकाल कर उपयोगी फसल वाले पौधों में डालने के प्रयास भी चल रहे हैं।

अपने देश में वर्ष के 3-4 महीनों (जून से सितंबर) के बीच, प्रतिवर्ष सामान्य स्थितियों में औसतन 1100 मिलीमीटर वर्षा होती है। अब इस उपलब्ध वर्षाजल में से, महज 29 प्रतिशत भाग का ही जल संचयन हो पाता है शेष 71 प्रतिशत भाग तो नदियों के रास्ते बहकर समुद्र में चला जाता है। जो जल संचयित हो पाता है, उसके सिंचाई के लिए उपयोग की दक्षता भी केवल 35 से 40 प्रतिशत की ही होती है जिसे उन्नत विधियों द्वारा लगभग 50 प्रतिशत तक तो बढ़ाया ही

जा सकता है। देश में पानी की उपलब्धता की कमी का कारण महज कम वर्षा का होना ही नहीं है, बल्कि लोगों/किसानों द्वारा उचित जल प्रबंधन द्वारा बेहतर उपयोग की कमी का होना भी है।

सार्थक वर्षा और जल-प्रबंधन की आवश्यकता

कब, कहां और कितनी वर्षा होगी, इस पर तो किसानों का कोई नियंत्रण नहीं है पर एक बार जब वर्षा-जल खेत में उपलब्ध हो गया तो उसे रोककर उसका लाभकारी उपयोग तो किया ही जा सकता है। इसके लिए किसान यदि अपनी परंपरागत विधियों (अर्थात् गहरी जुताई, मेड़बंदी आदि) को अपनाएं या फिर उन्नत संरक्षण विधियां अपनाएं जो स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल हों, आर्थिक रूप से आकर्षक हों तथा रोजगारपरक भी हों तो स्थिति सुधर सकती है, तथा फसलों से बेहतर उपज भी हासिल हो सकती है। देश में इस समय जो 29 प्रतिशत वर्षा जल का संचयन हो पाता है यदि उसका भी बेहतर उपयोग हो तो उसका भी उपज पर अच्छा प्रभाव पड़ सकता है।

इस समय देश में खरीफ में लगभग 21 मिलियन हेक्टेयर भूमि में वर्षाधीन धान की खेती होती है। इसका एक बड़ा भाग देश के पूर्वी भाग (पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखंड आदि) राज्यों में स्थित है। भाग्य से देश की औसतन 1100 मिली लिटर प्रतिवर्ष वर्षा के मुकाबले, इस क्षेत्र में कुछ अधिक यानी, 1200 से 1500 मि. लिटर वर्षा होती है जो इस क्षेत्र में वर्षाधीन धान की खेती के लिए उपलब्ध है। इतना वर्षा जल मिलता है कि उसके समुचित जल प्रबंधन से एक फसल ही नहीं दो फसले भी ली जा सकती है। पर इन खेतों के ढलान युक्त होने, समतल न होने से पानी रुकता नहीं, बह जाता है। यदि इन ढलान-युक्त ऊंचे नीचे खेतों में फार्मपॉन्ड् (डिबरिया), जल संचयी कुएं (6.8. मी. आकार के) तथा उथली नालियाँ (डिच) बनाई जाएं तो ये वर्षा जल का संचयन बखूबी कर सकती हैं। ये जल संचयन (डब्ल्यू एच.एस.) ढांचे अमूमन तो खेत का 5 से 8 प्रतिशत भाग आच्छादित करते हैं तथा सामान्यतः खेत में पड़ने वाले 35 से 64 प्रतिशत वर्षा जल के भाग को रोक सकते हैं जिससे कि 05 से 51 प्रतिशत भाग से खेत की हल्की-फुल्की सिंचाई भी की जा सकती है। अमूमन एक हेक्टेयर खेत के लिए 1000 से 1500 घन मीटर आयतन वाला फार्मपॉन्ड पर्याप्त होता है। इससे सूखा पड़ने या वर्षा न होने की स्थिति में 15 से 20 दिनों तक फसल की रक्षा की जा सकती है।

छत्तीसगढ़ राज्य की स्थानीय दशाओं में इन जल संचयी ढांचों (डब्ल्यू.एच.एस.) को बनाने का खर्च प्रति हेक्टेयर 10 से 20 हजार रुपए आता है। प्रथम वर्ष में इन ढांचों की वजह से जल संचयन द्वारा जो धान की बेहतर उपज मिली, उससे किए गए खर्चे की स्थल-विशेष के अनुसार 17 से लेकर 57 प्रतिशत खर्चे की भरपाई हो सकी है। प्रयोगों में तीन वर्षों के औसत के आधार पर, इस राज्य में मानक/कंट्रोल (जब कोई विधि नहीं अपनाई गई) की 28.2 क्वि./हे. की उपज की तुलना में, किसानों की जल संचयन की विधि से जहां 40.2 क्वि./हे की उपज प्राप्त की गई, वहीं उन्नत वर्षाजल संचयन वाली विधि से 50.3 क्वि./हे. (यानी मानक के ऊपर 78.0 प्रतिशत बेहतर) उपज प्राप्त की गई है। आमतौर से फार्म पौन्ड बनाना उन खेतों में उपयुक्त पाया गया है, जहां वर्षाजल एकत्र करने के लिए खेत की ढलान तकरीबन 2 फीसदी या इससे अधिक का होता है। एक हजार घन मीटर के आयतन वाले फार्म-पॉन्ड (डबरी) के लिए आधा हेक्टेयर का जल अधिग्रहण क्षेत्र पर्याप्त होता है। इन जल अधिग्रहण वाले ढांचों को बनाने का कार्य स्थानीय कामगारों के द्वारा बखूबी किया जा सकता है। इससे पर्यावरण को क्षति भी नहीं पहुंचती, यह रोजगार परक है तथा आर्थिक रूप से भी लाभकारी है। इसलिए, यह विधा टिकाऊ हो सकती है तथा देश के पूर्वी क्षेत्र के मुख्यतः जन-जातीय बहुल, गरीबीग्रस्त, पिछड़े इलाकों में खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि में मददगार ही होगी।

❑

3

खनिजों द्वारा पर्यावरण प्रदूषण

*-डॉ.विजय कुमार उपाध्याय**

आजकल किसी भी देश के विकास-स्तर के मूल्यांकन हेतु उस देश में किए जाने वाले खनिज उत्पादन की मात्रा को काफी महत्वपूर्ण तथा विश्वसनीय मापदंड माना जाता है। यही कारण है कि आज प्रत्येक राष्ट्र अपने खनिज स्रोतों का अधिक से अधिक मात्रा में दोहन कर विकास की दौड़ में यथा संभव आगे बढ़ने का प्रयास कर रहा है। इसके फलस्वरूप उस देश का औद्योगिकीकरण तथा विकास तो अवश्य हो रहा है, परंतु इससे पर्यावरण प्रदूषण की काफी विकट समस्या पैदा हो रही है। इसका नतीजा यह हो रहा है कि लोग अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगों के शिकार हो रहे हैं। खनिजों से पर्यावरण के सभी घटक प्रदूषित हो रहे हैं जिनमें शामिल हैं- वायुमंडल, जल मंडल तथा स्थल मंडल।

अनेक रोगों की उत्पत्ति सांस द्वारा धूल को ग्रहण करने के कारण होती है। उन क्षेत्रों के वायुमंडल में धूल अधिक पाई जाती है जहां खनिजों को प्राप्त करने के लिए चट्टानों को तोड़ा जाता है। मानव-स्वास्थ्य पर धूल का क्या प्रभाव पड़ता है यह जानने के पहले यह जान लेना जरूरी है कि यह धूल किस प्रकार की चट्टान से पैदा हो रही है। धूल का खनिज संघटन तथा वायुमंडल में उसकी मात्रा अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग हो सकती है।

किसी मरुस्थल में उपस्थित वायुमंडल में निलंबित बालू के कण या गलियों में बहने वाली हवा में पाए जाने वाले बालू के कण, जिनके संपर्क में हम सामान्य तौर पर आते हैं, इतने बड़े-बड़े होते हैं कि वे हमारी नाक के बालों में फंस कर रह जाते हैं तथा फेफड़ों में नहीं पहुंच पाते। हमारे फेफड़ों में सिर्फ वे ही धूल कण पहुंच पाते हैं जिनका आकार पांच माइक्रॉन (एक माइक्रॉन एक मिलीमीटर के हजारवें भाग के बराबर) या उससे छोटा रहता है। हाल में किए गए अनुसंधानों से पता चला है कि अधिकांश खानों में मौजूद वायु में इस आकार के धूल कण काफी संख्या में पाए जाते हैं।

हंटर नामक एक अमरीकी वैज्ञानिक ने "सिलिकामयता" नामक रोग के कारण मृत व्यक्तियों के फेफड़ों का अध्ययन किया। उसने पाया कि ऐसे लोगों के फेफड़ों में जो धूल कण मौजूद रहते हैं उनमें से अधिकांश कणों का आकार एक माइक्रॉन या उससे छोटा रहता है। अभी तक किए गए अध्ययनों के आधार पर वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला है कि "सिलिकामयता" नामक रोग सांस द्वारा मुक्त या असंयुक्त सिलिका कणों के फेफड़ों में पहुंचने के कारण होता है। अत: जिन खनिजों या शैलों में मुक्त सिलिका शामिल नहीं रहता उनके खनन के दौरान उठने वाली धूल के फेफड़ों में पहुंचने से सिलिकामयता होने की संभावना नहीं रहती। जिन खनिजों या शैलों के खनन के दौरान उठने वाली धूल से सिलिकामयता होने का डर रहता है उनमें शामिल हैं ट्रीमोलाइट तथा क्राइसोटाइल 'ऐस्बेस्टॉस' सर्पेन्टीन, स्फटिक, सिलिमेनाइट, ग्रेनाइट, पेगमेटाइट, बालुकाश्म, शेल, क्वार्टजाईट तथा पेरिडोटाइट इत्यादि।

सिलिकामयता रोग के कारण मरने वाले लोगों के फेफड़ों में जमा हुई धूल के कणों के खनिज-विश्लेषण से पता चला है कि सर्वाधिक खतरनाक खनिजों में सिलिकायुक्त खनिज शमिल हैं जिनकी आकृति फाइब्रस होती है। इस प्रकार शुद्ध स्फटिक क्वार्ट्ज उतना खतरनाक नहीं है जितना क्राइसोटाइल या ट्रीमोलाइट ऐस्बेस्टस। सिलिकामयता रोग से ग्रस्त रोगियों के फेफड़ों में ऊतक, सूक्ष्म तथा रेशेदार किस्म के सिलिकेट कणों के द्वारा विशिष्ट प्रकार की संरचना विकसित कर लेते हैं। हालांकि इस प्रकार के अध्ययन प्रारंभ में सिर्फ शव परीक्षा के दौरान ही हो पाते थे, परंतु उपयोगी निष्कर्षों को प्राप्त करने की दिशा में उनका काफी महत्व था। अब तो शल्य क्रिया के दौरान भी इस प्रकार के अध्ययन चलाए जा रहे हैं। इन अध्ययनों के आधार पर चिकित्सा वैज्ञानिक रोगियों को कई प्रकार के उपयोगी परामर्श दे सकते हैं और खान मालिकों को भी जरूरी निर्देश दिए जा सकते हैं।

सिलिकामयता के समान ही एक अन्य खतरनाक रोग फुप्फुसधूलिमयता (न्यूमोकोनियोसिस) है। यह रोग उन लोगों को होता है जो लंबे समय तक कोयला खान में काम करते हैं। चूँकि यह रोग शीघ्र अपना प्रभाव नहीं दिखाता, अत: अनेक शताब्दियों तक लोग इस खतरे को समझ नहीं पाए। कोयला खानों में उठने वाली धूल में कोयला कणों के साथ-साथ सिलिका कण भी मौजूद रहते हैं। ये दोनों प्रकार के कण सांस द्वारा फेफड़ों में पहुंच कर धीरे-धीरे फुप्फुसधूलिमयता नामक रोग को जन्म देते हैं। यह रोग इतनी धीमी गति से विकसित होता है कि अधिकांश स्थितियों में खान कर्मचारी सेवामुक्त होने के बाद ही इसका प्रभाव अनुभव करते हैं। परंतु तब तक बहुत विलंब हो चुका होता है। इस रोग में सर्दी-बुखार तथा खाँसी जैसे कुछ लक्षण पाए जाते हैं जो सामान्य तौर पर ठीक नहीं होते।

रोग पैदा करने के दृष्टिकोण से पारे (मर्करी) के अयस्क का खनन भी काफी खतरनाक माना जाता है। पारे का सर्वप्रमुख अयस्क है सिनेबार जो लाल रंग का एक खनिज है। इसके खनन-कार्य से जुड़े मजदूरों को स्वास्थ्य संबंधी कई समस्याओं से जूझना पड़ता है। इस खनिज की धूल जब सांस द्वारा फेफड़ों में पहुँचती है तो स्वभाव में घबराहट तथा क्रोध की भावना पैदा होती है। इस खनिज के खनन-कार्य से जुड़े लोगों के दाँत कम उम्र में ही क्षतिग्रस्त होने लगते हैं। पारे की विषाक्तता से संबंधित एक घटना का उल्लेख इतिहास में मिलता है। सोलहवीं शताब्दी में स्वीडेन का एक सम्राट एरिख-14 था और एक उसका भाई योहान III एरिख को हटाकर स्वयं सम्राट बनना चाहता था। उसने सन् 1568 में एरिख को पारायुक्त विष खिलाकर मार डाला तथा स्वयं गद्दी पर बैठ गया। परंतु विष इस चतुराई से दिया गया था कि लोगों को उस पर संदेह नहीं हुआ लेकिन तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा इस संबंध में शंका जरूर व्यक्त की गई थी। इस शंका की पुष्टि कुछ समय पूर्व वैज्ञानिकों द्वारा भी गई है। एरिख का अस्थि पंजर एवं बाल सुरक्षित रखे हुए थे। कुछ वैज्ञानिकों ने नाभिकीय भौतिकी की विधियों द्वारा जब उसके बालों का विश्लेषण किया तो उसमें पारे की मात्रा सामान्य स्तर से बहुत अधिक पाई गई। इस विश्लेषण से स्पष्ट हो गया कि सम्राट एरिख को पारे से निर्मित विष देकर मारा गया था। पारे की विषाक्तता से संबंधित एक अन्य कहानी रूस के जार इवान से जुड़ी है। वह अपने जीवन के अंतिम दिनों में बहुत क्रोधी हो गया था। इसका कारण यह था कि उसके शरीर के जोड़ों में दर्द रहता था जिससे मुक्ति पाने के लिए वह पारायुक्त मरहम की मालिश किया करता था।

आर्सेनिकयुक्त खनिज भी स्वास्थ्य के लिए बहुत खतरनाक साबित हुए हैं। इन खनिजों के संपर्क में रहने वाला भूमिगत जल भी लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है। आर्सेनिक खनिजों से युक्त वायु या जल के सेवन या संपर्क से 'आर्सेनिकमयता' नामक

कृष्णा इनक्लेव, राजेंद्र नगर प्रो. जमगढ़िया, भाया-जोधाडीह, चास, जिला-बोकारो, झारखंड

रोग पैदा होता है। इस रोग की शुरुआत सिर-दर्द, चक्कर तथा आलस्य से होती है। फिर धीरे-धीरे कई प्रकार की समस्याएं सामने आती हैं जिनमें मांसपेशियों में ऐंठन, नाखून का बदरंग होना, अतिसार, वमन, मूत्र के साथ खून आना तथा बालों का असमय उड़ना, इत्यादि शामिल है। आर्सेनिक विषाक्तता से चर्म रोग तथा कैन्सर भी हो सकता है। हाल ही में बिहार की राजधानी पटना से थोड़ी दूर दीघा स्टेशन के निकट गंगा के दक्षिणी तट पर अवस्थित गांव, बिंद टोली के कई नलकूपों से निकलने वाले जल की जांच ए.एन. कॉलेज, पटना में स्नातकोत्तर पर्यावरण विज्ञान के कुछ शोधकर्ताओं द्वारा की गई। इस जांच से पता चला कि इस जल में आर्सेनिक की मात्रा 400 माइक्रोग्राम प्रति लिटर है, जबकि इसकी स्वीकार्य मात्रा सिर्फ 50 माइक्रोग्राम प्रति लिटर है। इस जल के सेवन के कारण इस गांव के अधिकांश लोग ल्युकोडर्मा तथा अन्य चर्म रोगों से ग्रस्त पाए गए।

सीस (लेड) के खनिज भी कई प्रकार के रोग पैदा करते हैं। कुछ अमेरिकी तथा कनाडियन वैज्ञानिकों के मतानुसार रोम का पतन सीस का जहर फैलने के कारण हुआ। प्राचीन काल में रोम के धनी लोग प्राय: सीस से निर्मित बर्तनों का उपयोग करते थे तथा शृंगार प्रसाधनों में भी सीसयुक्त खनिजों का उपयोग किया जाता था। इसके फलस्वरूप उनके शरीर में सीस का जहर फैल जाता था। नतीजा यह होता था कि अधिकाशं लोग अल्प आयु में काल-कवलित हो जाते थे। अनेक रोमन सम्राट कई प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगों से ग्रस्त रहते थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि रोम के धनी लोगों की औसत आयु सिर्फ 25 वर्ष थी। प्राचीन रोम के लोग जो जल पीते थे उसमें कार्बन डाइऑक्साइड काफी परिमाण में घुला रहता था। यह जल सीसे के पाइप से गुजरते समय पाइप की दीवार से क्रिया कर लेड कार्बोनेट बनाता था। यह लेड कार्बोनेट सिरूसाइट नामक एक खनिज है। यह खनिज जल में विलेय है। जब रोम के लोग इस जल को पीते थे तो सिरुसाइट उनके शरीर में पहुंच कर कई रोगों को जन्म देता था।

स्वास्थ्य के लिए सर्वाधिक खतरनाक होते हैं रेडियो सक्रिय खनिज। ऐसे खनिजों के खनन के दौरान उठने वाली धूल में उपस्थित कण रेडियो सक्रिय किरणों का विकिरण करते हैं। ये किरणें अदृश्य होती हैं और जीवों को गुप्त रूप से क्षति पहुंचाती हैं। ऐसे खनिजों के कण जब सांस द्वारा फेफड़ों में पहुंचते हैं तो वे उस जीव-शरीर में लगभग जीवन पर्यंत पड़े रह कर अदृश्य रेडियो सक्रिय किरणें उत्सर्जित करते रहते हैं तथा उस व्यक्ति के स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचाते हैं।

कुछ समय पूर्व बिहार विधान परिषद द्वारा गठित पर्यावरण समिति के अधीनस्थ चिकित्सा वैज्ञानिकों के एक दल द्वारा जादुगुड़ा यूरेनियम खान के निकटवर्ती क्षेत्रों में निवास करने वाले लगभग 2900 लोगों के स्वास्थ्य की जांच की गई। इस जांच से पता चला कि यूरेनियम खान में काम करने वाले कई लोग कैन्सर तथा श्वेतरक्तता (ल्युकीमिया) से ग्रस्त होकर अपना दम तोड़ चुके हैं। उस खान में कार्यरत अनेक लोगों को कैन्सर की चिकित्सा हेतु जमशेदपुर स्थित 'मेहराबाई टाटा मैमोरियल हॉस्पिटल' में भर्ती किया जा चुका है। कई व्यक्ति यकृत् तथा प्लीहा की जलन से परेशान थे तो अनेक व्यक्ति अस्थि सुषिरता (औस्टियो पोरोसिस) से ग्रस्त थे। कुछ महिलाए बार-बार होने वाले गर्भपात से परेशान थीं तो कुछ महिलाएं अनार्तव (मासिक स्राव का अभाव) रोग से काफी परेशान थी। कई महिलाओं ने ऐसे बच्चों को जन्म दिया था जो शारीरिक रूप से विकलांग तथा मानसिक विकृति से ग्रस्त थे।

जादुगुड़ा क्षेत्र में रेडियोसक्रिय विकिरण द्वारा फैलने वाले प्रदूषण से सिर्फ मानव ही नहीं अपितु पशु-पक्षी, जलचर तथा पेड़-पौधे भी इसकी चपेट में आ गए हैं। उदाहरणार्थ इस क्षेत्र में पैदा होने वाले एक प्रमुख वृक्ष केंद्र में लगने वाले फलों का जब रेडियो समस्थानिक प्रयोगशाला में विश्लेषण किया गया तो उसमें विकिरण

का स्तर 3 रेड पाया गया। रेड वस्तुत: किसी जीव या वस्तु द्वारा शोषित किए गए आयनकारी विकिरण (आयोनाइजिंग रेडिएशन) की इकाई है। यह मात्रक 100 अर्ग ऊर्जा प्रति ग्राम पदार्थ के बराबर है। केंद्र के फलों में मौजूद 3 रेड का विकिरण-स्तर, मान्य या स्वीकार्य स्तर से काफी ऊपर है। वस्तुत: होता यह है कि खान से प्राप्त अयस्क में से उपयोगी पदार्थ निकाल लेने के बाद कचरे को निकटवर्ती गांबों में स्थित कुछ गड्ढों (जिन्हें टेलिंग पौंड कहा जाता है) में डाल दिया जाता है। यह कचरा भी रेडियो सक्रिय किरणों का उत्सर्जन करता रहता है। टेलिंग पौंड का यह कचरा हवा में उड़ कर तथा पानी में प्रवाहित होकर आस-पास के क्षेत्रों में फैल जाता है तथा वहां की मिट्टी में मिल जाता है। इस मिट्टी पर उगने वाले पौधे रेडियो सक्रिय विकिरण से प्रभावित होते रहते हैं। फिर इन वनस्पतियों को आहार के रूप में ग्रहण करने वाले जीव-जंतु भी इसकी चपेट में आ जाते हैं।

खनिजों के खनन के दौरान धूल उड़ने की क्रिया को नियंत्रित करने के लिए आजकल कई तरीके अपनाए जाते हैं। इन विधियों में खानों में ताजी हवा के आवागमन का पूरा प्रबंध करना तथा जल का छिड़काव आदि शामिल हैं। कुछ समय पूर्व सिलिकामयता की रोकथाम के लिए प्रोफाइलेक्सिस नामक विधि को अपनाया जाने लगा है। इस विधि में प्रत्येक खान कर्मचारी को खान में काम हेतु जाने के पूर्व अल्प मात्रा में ऐलुमिनियम धातु की धूल सूंधने के लिए दी जाती है। जब ऐलुमिनियम धूल के संपर्क में सिलिका धूल आती है तो वह विलेय तथा निष्क्रिय बन जाती है। इस कारणवश यह फेफड़े पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाती तथा खान कर्मचारी सिलिकामयता नामक रोग के खतरे से बचा रहता है।

❑

4

अंतरराष्ट्रीय महत्व की फसल : आलू

डॉ. जितेंद्र सिंह

आज विश्व में चावल, गेहूँ और मक्का के बाद आलू चौथा सर्वाधिक उपयोग किया जाने वाला खाद्य बनकर उभरा है। कृषि के जानकारों और वैज्ञानिकों के मुताबिक आलू ही भविष्य का ऐसा खाद्य है, जो आने वाले समय में विश्व की बढ़ती हुई आबादी को कुपोषण और भुखमरी से दूर रख सकता है। यूरोप के देशों में आलू का बड़ी मात्रा में उपभोग और उत्पादन किया जाता है। एशिया एवं अफ्रीका के देशों में यूरोपीय देशों की तुलना में काफी कम आलू का उपभोग और उत्पादन होता है। विकासशील देशों में आलू के प्रति जागरूकता पैदा करने से इन क्षेत्रों में भी आलू के उपभोग और उत्पादन में वृद्धि होने की अपार संभावनाएं मौजदू है। शायद इसी कारण संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्ष 2008 को अंतरराष्ट्रीय आलू वर्ष के रूप में मनाने की घोषणा की है। इसकी घोषणा संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा ने 18 अक्टूबर, 2007 में एक प्रेस कान्फ्रेस की गई। इसका प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रमुख संस्था खाद्य एवं कृषि संगठन, रोम ने किया था, जिसको साधारण सभा ने वर्ष 2005 में स्वीकार किया था। काफी दिनों के विचार विमर्श के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्ष 2008 को अंतरराष्ट्रीय आलू वर्ष के रूप में मनाने की घोषण की गई। इसके द्वारा विकासशील देशों में आलू को मुख्य खाद्य के रूप में अपनाने के लिए जागरूकता फैलाई जाएगी।

आलू की उत्पत्ति एवं इतिहास : आलू का मूल स्थान अमेरिका माना जाता है। आज से लगभग 2000 वर्ष पर्वू पेरू के लोग आलू की खेती करना प्रारंभ कर चुके थे। जब कोलंबस ने सन् 1492 में नई दुनिया की खोज की, तो उन्हें शकरकंद की भांति आलू की फसल दिखाई दी। उस समय वहाँ की भाषा में इसे 'पापोष' अर्थात् कंद कहते थे।

हमारे देश में आलू सत्रहवी सदी के प्रारंभ में आया। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार पुर्तगाली व्यवसायी अपने साथ नई फसल के रूप में आलू को भारत में लाए थे। संस्कृत में अरबी, रतालू आदि कंद वाली फसलों के लिए प्रारंभ में आलू या आलूक शब्द का प्रयोग किया गया। शायद इसीलिए इस फसल को आलू नाम से सम्बोधन किया गया।

आलू का वानस्पतिक विवरण : आलू एक वर्षीय कोमल तने वाला ठंडी जलवायु का पौधा है। यह वानस्पतिक रूप से तने का परिवर्तित रूप है। भूमि के अंदर तने से भूस्तारी (स्टोलॉन) बनते है, जिसके सिरों पर कंद के रूप में आलू का विकास होता है। यह सोलनेसी कुल का सदस्य है जिसका जीनस सोलेनम तथा स्पीशीज ट्यूबरोजम है। इसका वानस्पतिक नाम *सोलेनम ट्यूबरोजाम* है। इसमें कायिक प्रवर्धन होता है। इसकी खेती मैदानी एवं पहाड़ी दोनों क्षेत्रों में की जा सकती है। सामान्यत: आलू की खेती 60 से 85 फॉरेनहाइट ताप पर सफलतापूर्वक की जा सकती है। आलू के अंकुरण के लिए 75 फॉरेनहाइट तथा कंद बनने के लिए 64 फॉरेनहाइट ताप सबसे उपयुक्त होता है। 30 डिग्री सेंटीग्रेड ताप से अधिक होने पर कंद का विकास रुक जाता है। आलू को 3000-4500 मीटर ऊंचाई वाले क्षेत्रों में भी उगाया जा सकता है।

एस 2/326जी., कमला भवन, राजर्षि नगर, भोजूबीर, वाराणसी 221002

विश्व में आलू का उत्पादन, उपभोग एवं क्षेत्रफल : विश्व में आलू की खेती लगभग 2 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्रफल में की जाती है। प्रति वर्ष आलू का वैश्विक उत्पादन 31 करोड़ टन के आस-पास होता है। आलू का सर्वाधिक उपभोग यूरोप के देशों में किया जाता है। लेकिन पिछले दशक से विकासशील देशों में भी आलू का उपभोग काफी तेजी से बढ़ा है। फिलहाल अभी अफ्रीका के देशों में आलू का उपभोग काफी कम है। इन देशों में प्रति व्यक्ति/वर्ष लगभग 14.18 किग्रा. आलू का उपभोग किया जाता है। जबकि यूरोप में प्रति व्यक्ति/वर्ष 16.13 किग्रा. आलू का उपभोग किया जाता है। विश्व में औसत आलू का उपभोग प्रति व्यक्ति/वर्ष लगभग 33.68 किग्रा. है।

भारत में आलू का उत्पादन एवं क्षेत्रफल : भारत में आलू की खेती लगभग 1.3 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्रफल से प्रति वर्ष लगभग 23.6 मिलियन टन आलू का उत्पादन किया जाता है। हमारे देश में 90 फीसदी आलू का क्षेत्रफल उत्तर भारत में है, जहां आलू की खेती ठंड के मौमस में की जाती है। देश में 1950-51 में आलू की खेती 0.24 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्रफल में की जाती थी, जो आज बढ़कर 1.3 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्रफल हो गया है। आज देश का कुल आलू उत्पादन 1.66 मिलियन टन से बढ़कर 24 मिलियन टन तक पहुंच गया है। इधर कुछ वर्षों में आलू की उत्पादकता में भी काफी वृद्धि हुई है। 1950-51 आलू की जो उत्पादकता 69.2 क्विंटल हेक्टेयर थी, जो आज सन् 2007 में बढ़कर 181.5 क्विंटल/हेक्टेयर हो गई है। आज हमारे देश का विश्व में आलू उत्पादन में तीसरा एवं क्षेत्रफल की दृष्टिकोण से चौथा स्थान है। देश में आलू का उपभोग प्रति व्यक्ति/वर्ष लगभग 15 कि. ग्रा है, जो विश्व में औसत आलू के उपभोग का प्रति व्यक्ति/वर्ष लगभग 33.68 कि.ग्रा. से काफी कम है।

आलू का पोषणिक महत्व: आलू का उपभोग आज सब्जी के अतिरिक्त अन्य बहुत तरह से किया जाता है। यही कारण है कि आज आलू, विश्व में लोगों द्वारा सर्वाधिक उपभोग किया जाने वाला चौथा प्रमुख खाद्य बनकर उभरा है। यदि आलू से जुड़ी कुछ भ्रांतियों को दूर कर दिया जाए एवं आलू के पोषण-मूल्य से आम जन को परिचित कराकर जागरूक किया जाए तो आलू को विश्व की मुख्य खाद्य फसल बनने में देर नहीं लगेगी।

आलू में प्रति इकाई क्षेत्रफल एवं समय में अन्य सभी फसलों की तुलना में अधिक खाद्य पैदा करने की क्षमता है।

तालिका-1 विश्व में क्षेत्रवार आलू की पैदावार

क्र.सं.	क्षेत्र	क्षेत्रफल हेक्टेयर	कुल उत्पादन टन	उपज टन/ हेक्टेयर
1.	अफ्रीका	1499687	16420729	10.95
2.	एशिया	9143495	131286181	14.36
3.	यूरोप	7348420	126332492	17.19
4.	लैटिन अमेरिका	951974	15627530	16.42
5.	उत्तरी अमेरिका	608131	24708603	40.63
	विश्व	19551707	314375535	16.08

स्रोत : विश्व खाद्य संगठन, 2006

तालिका- 2 विश्व में क्षेत्रवार आलू का उपभोग

क्र. सं.	क्षेत्र	जनसंख्या	कुल खाद्य	किग्रा./व्यक्ति
1.	अफ्रीका	905937000	12850000	14.18
2.	एशिया	3938469000	101756000	25.83
3.	यूरोप	739276000	71087000	96.15
4.	लैटिन अमेरिका	561244000	13280000	23.65
5.	उत्तरी अमेरिका	330608000	19156000	57.94
	विश्व	6475634000	218129000	33.68

स्रोत: विश्व खाद्य संगठन, 2005

कृषि वैज्ञानिकों के अनुसार जहां आलू 47.60 कि.ग्रा. /दिन/हेक्टेयर शुष्क पदार्थ पैदा करते है, वही पर गेहूं 18 कि.ग्रा. एवं चावल 12.40 कि.ग्रा./दिन/हेक्टेयर शुष्क पदार्थ पैदा करते हैं। आलू 3 कि.ग्रा./दिन.हेक्टेयर भोज्य प्रोटीन पैदा करता है, वहीं पर गेहूं 2.5 कि.ग्रा. , एवं चावल 1 कि.ग्रा/दिन/हेक्टेयर भोज्य प्रोटीन पैदा करता है। आलू, गेहूँ से 3.7 गुना और धान से चार गुना अधिक खनिज लवण पैदा करता है। इसके अतिरिक्त आलू प्रति इकाई क्षेत्रफल एवं समय में मुख्य खाद्य फसलों की तुलना में कार्बोहाइड्रेट, रेशा, विटामिन अधिक पैदा करता है। खाद्यान्न फसलों की अपेक्षा आलू में पोटैशियम, फास्फोरस, लोहा और कैल्सियम आदि तत्व पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। जंतु प्रोटीन मीट, चिकन, बीफ एवं दूध की तुलना में आलू सर्वोत्तम वनस्पति प्रोटीन का स्रोत है। यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन 3 कि.ग्रा. आलू का सेवन करता है तो उसकी प्रतिदिन की ऊर्जा की पूर्ति हो जाती है।

तालिका- 3 आलू में पाए जाने वाले पोषक तत्वों का रासायनिक विश्लेषण

(100 ग्राम खाने योग्य आलू के भाग के आधार पर)

तत्व	मात्रा	तत्व	मात्रा
नमी	7.47 ग्राम	विटामिन सी	17 मि.ग्राम
प्रोटीन	1.6 ग्राम	फॉस्फोरस	44 मि.ग्राम
वसा	0.1 ग्राम	लोहा	0.7 मि.ग्राम
खनिज पदार्थ	0.6 ग्राम	सोडियम	1.9 मि.ग्राम
रेशा	0.4 ग्राम	पोटैशियम	247 मि.ग्राम
कार्बोहाइड्रेट	22.6 ग्राम	कॉपर	0.02 मि.ग्राम
केलोरी	97 ग्राम	सल्फर	3.0 मि.ग्राम
केल्सियम	10 ग्राम	थायेमिन	10 मि.ग्राम
मैग्नीशियम	20 ग्राम	विटामिन	40 आई.यू.
ऑक्सैलिक अम्ल	20 ग्राम	क्लोरीन	0.1 मि.ग्राम
निकोटिनिक अम्ल	1.2 ग्राम	राइबोफ्लेविन	0.01 मि.ग्राम

आलू के सेवन से जुड़ी कुछ भ्रॉतियॉ- हमारे देश में आलू के सेवन को लेकर आम जनों में काफी भ्रॉतियॉ फैली हुई है। जिसके कारण आलू का अधिक मात्रा में सेवन करने से लोग परहेज करते हैं। यदि आलू से जुड़ी भ्रॉतियॉ को दूर कर लिया जाए तो आलू को मुख्य खाद्य के रूप में लोग अपना सकते हैं। आलू के सेवन को लेकर समाज में अमूमन निम्नलिखित भ्रांतियॉ फैली हुई है।

तालिका- 4 अन्य मुख्य खाद्य फसलों की तुलना में आलू का पोषण मान

क्र.सं.	फसल	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	रेशा ग्राम	वसा ग्राम	विटामिन सी ग्राम	विटामिन बी
1.	आलू	42.5	752	118	32.0	2.5
2.	गेहूं	14.8	249	311	0.00	1.3
3.	चावल	11.2	29	72	0.00	0.3
4.	मक्का	7.1	29.7	383	0.00	0.3
5.	सोयाबीन	2.0	352	1956	0.00	0.5

- समाज में आलू को लेकर भ्रम है कि आलू के सेवन से शरीर का मोटापा बढ़ता है, जोकि बिल्कुल असत्य है। क्योंकि आलू में मात्र 0.1 प्रतिशत वसा पाई जाती है। आलू के सेवन से शरीर में जो वसा बढ़ती है, वह आलू की न होकर, आलू को पकाने व तलने में प्रयोग की गई वसा की मात्रा पर निर्भर करती है।

- समाज में आलू को लेकर दूसरा बड़ा भ्रम है कि आलू के सेवन से लोग मधुमेह के रोगी हो जाते हैं। यह भी लोगों की मात्र निर्मूल कल्पना है। क्योंकि पश्चिमी देशोंमें में मधुमेह के रोगियों को वहॉ के डॉक्टर कम कैलोरी वाले खाद्य के रूप में आलू के सेवन की सलाह देते हैं।

- लोगों का मानना है कि आलू में ऐल्केलॉइड/सोलेनिन नामक तत्व पाया जाता है जो शरीर के लिए हानिकारक होता है। लेकिन इसके साथ यह भी जानना जरूरी है कि यह हानिकारक तत्व सिर्फ आलू के हरे कंदों में पाया जाता है जिनका सेवन नहीं किया जाता है।

- लोगों को भ्रम है कि खाद्यान्न, मीट, दूध की तुलना में आलू में बहुत कम मात्रा में पोषक तत्व पाए जाते हैं, जोकि सत्य नहीं है। प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है कि आलू अन्य उपभोग किए जाने वाले खाद्य से किसी मायने में कम नहीं है।

आलू के प्रसंस्कृत उत्पाद : आज विकसित देशों के साथ-साथ विकासशील देशों में भी आलू के प्रसंस्कृत उत्पादों के सेवन का चलन जोरों से बढ़ रहा है। हमारे देश में पिछले एक दशक से आलू के प्रसंस्कृत उत्पादों का सेवन बहुत अधिक बढ़ा है। आलू से मैगी, चिप्स, भुजिया, बेबी फूड, सूप, सॉस-आलू का आटा, ग्रेनूल्स आदि प्रमुख प्रसंस्कृत उत्पाद तैयार किए जाते हैं। आलू के आटे का उपयोग बड़ी मात्रा में बिस्कुट बनाने के प्रयोग में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त आलू का बड़ी मात्रा में प्रयोग समोसा, पैटीज और डोसा आदि फास्ट फूड बनाने में भी किया जाता है। भारत में कुल फल और सब्जी के उत्पादन का मात्र 5-6 प्रतिशत का ही प्रसंस्करण किया जाता है।

आलू का निर्यात : विश्व के समस्त आलू उत्पादन का लगभग 8 फीसदी आलू हमारे देश में पैदा होता है। इस प्रकार आलू के उत्पादन में चीन और रूस के बाद भारत का विश्व में तीसरा स्थान है, जिसमें मात्र 0.52 प्रतिशत आलू का निर्यात हमारे देश से किया जाता है। हमारे देश से कुल निर्यात में 50 फीसदी कच्चा आलू, 28 फीसदी हिम-शीतित आलू, 10 फीसदी आलू बीज, 8 फीसदी चिप्स एवं 4 फीसदी अन्य तरह से आलू का निर्यात किया जाता है। एक आंकड़े के अनुसार वर्ष 2003-03 के दौरान 184 लाख क्विंटल कच्चा आलू 0.39 लाख क्विंटल आलू बीज एवं 0.72 लाख क्विंटल आलू के प्रसंस्कृत

उत्पादों का निर्यात किया गया। श्रीलंका, यूएई, बांग्लादेश, नेपाल, पाकिस्तान, मरिशस, मालदीव, सिंगापुर, जापान, मलेशिया, सउदी अरब आदि आलू के बड़े आयातक देश हैं।

संभावनाएं : आलू की खेती अधिम श्रम चाहने वाली फसल है। इसकी खेती को बढ़ावा देने से कृषि मजदूरों के लिए बड़ी संख्या में रोजगार का सृजन होगा। एक हेक्टेयर क्षेत्रफल पर आलू की खेती के लिए 250 दिन के मानव श्रम की आवश्यकता होती है। यूरोपीय देशों में आलू का उत्पादन गर्मी में किया जाता है। हमारे देश में 85 फीसदी आलू का उत्पादन ठंड के मौसम में किया जाता है। ठंड के मौसम में यूरोपीय देशों में आलू का उत्पादन न होने के कारण भारत द्वारा बड़ी मात्रा में यूरोपीय देशों को आलू निर्यात कर काफी विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। भारत में विविध जलवायु होने के कारण देश के किसी न किसी भाग पर वर्ष भर आलू की खेती की जा सकती है जिससे वर्ष भर ताजे आलू की उपलब्धता बनाएं रखी जा सकती है। देशी एवं विदेशी बाजार में आलू के प्रसंस्कृत उत्पादों की बढ़ती मांग को देखते हुए आलू के विभिन्न तरह के प्रसंस्कृत उत्पाद तैयार करने के लिए छोटे एवं बड़े स्तर पर खाद्य प्रसंस्करण इकाइयां स्थापित कर लोगों को रोजगार प्रदान किया जा सकता है।

सारांश : विश्व की बेतहाशा बढ़ती हुई आबादी को खाद्यान के भरोसे दो जून का भोजन मुहैया कराना एक कठिन कार्य है। एशिया और अफ्रीका के देशों में तो सिर्फ खाद्यान्न के भरोसे लोगों को दो जून का भोजन कराना और भी दुरूह कार्य है। ऐसे में दुनिया के सामने आलू का अन्य खाद्यान्नों की तरह भोजन में इस्तेमाल करना एक अच्छा विकल्प है। बहरहाल, आलू में वे सारी खूबियां मौजूद है जिसे आलू को खाद्यान्नों की तरह भोजन में इस्तेमाल किया जा सके। शायद, आलू के इन्हीं खूबियों और गुणों के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्ष 2008 को अंतरराष्ट्रीय आलू वर्ष के रूप में मनाने की घोषण की है।

आलू को समूची दुनिया में मुख्य रूप से सब्जी के रूप में ही इस्तेमाल में लाया जाता है। लेकिन आजकल आलू के उपयोग का दायरा कुछ बढ़ा है। आज नाना प्रकार के फास्ट फूड तैयार करने में आलू का बड़ी मात्रा में उपयोग किया जाता है। यदि अंतरराष्ट्रीय आलू वर्ष 2008 आम लोगों में आलू के सेवन को लेकर फैली कुछ भ्रांतियों को दूर करने में सफल होता है तो इसमें दो राय नहीं कि आगे वाले समय में आलू को मुख्य आहार के रूप में शामिल कर लिया जाएगा। बहरहाल, आलू को मुख्य खाद्य का दर्जा देने से सर्वाधिक फायदा विकासशील देशों को होगा, क्योंकि इन्हीं देशों की सर्वाधिक जनसंख्या कुपोषण और भुखमरी की शिकार है। एक आंकड़े के मुताबिक इन्हीं देशों में आलू का सबसे कम इस्तेमाल भी किया जाता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में अंतरराष्ट्रीय आलू वर्ष को देखे तो सर्वाधिक फायदा अपने देश को होगा। कृषि क्षेत्र में नित नई उपलब्धियां प्राप्त करने के बावजूद हमारा देश आज दुनिया का सर्वाधिक दलहन, तिलहन और खाद्यान्न, का आयातक देश है। आज भी हमारे देश की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा कुपोषण का शिकार है जिन्हें दो वक्त का भोजन नहीं मिल पाता है। ऐसे में आलू के उपभोग को खाद्यान्नों की तरह इस्तेमाल को बढ़ावा देने से देश को कई फायदे होंगे। पहला यह कि लोगों को धीरे-धीरे कुपोषण और भुखमरी से मुक्ति मिलेगी। दूसरा यह कि आलू को खाद्यान्न की फसलों की तरह इस्तेमाल से खाद्यान्नों पर निर्भरता घटेगी। तीसरा यह कि प्रति वर्ष बड़ी मात्रा में किए जाने वाले खाद्यानों के आयात में भी कमी आएगी। बहरहाल, आवश्यकता है अंतरराष्ट्रीय आलू वर्ष के इस मिशन को कामयाब बनाने की। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रायोजित अंतरराष्ट्रीय आलू वर्ष 2008 का मिशन सफल होता है तो यूरोपीय देशों के साथ-साथ एशिया और अफ्रीकी देशों में भी आलू का उपभोग बढ़ेगा।

संदर्भ सूची

द हिंदू सर्वे ऑफ इंडियन एग्रीकल्चर, 2006, चेन्नई

द हिंदू सर्वे ऑफ इंडियन एग्रीकल्चर, 2007, चेन्नई

प्रतियोगिता दर्पण, दिसंबर, 2007 आगरा, उ.प्र.

आधुनिक शाक एवं पुष्प उत्पादन, रामा पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, उ.प्र.

आलू की उन्नत खेती, कृषि विविधीकरण परियोजना, उ.प्र.

5

कैल्सियम और स्वास्थ्य

डा. जे. एल. अग्रवाल

शरीर की संरचना और कार्यों के लिये विभिन्न पोषक तत्वों- प्रोटीन, शर्करा, वसा, विटामिन, खनिज लवणों, जल आदि की जरूरत होती है। शरीर को 7 खनिज लवणों-सोडियम, कैल्सियम, फॉस्फोरस, पोटैशियम क्लोराइड, सल्फर, मैग्नीशियम की ज्यादा मात्रा में तथा अन्य खनिज लवणों- आयरन, आयोडीन, सिलेनियम, कॉपर, जिंक इत्यादि की सूक्ष्म मात्रा में आवश्यकता होती हैं। कैल्सियम की मात्रा शरीर में अन्य सभी खनिज लवणों से ज्यादा होती है। मानव शरीर में कुल कैल्सियम की मात्रा शरीर के वजन का 1.5 से 2.0 प्रतिशत अर्थात वयस्क व्यक्ति में कुल मात्रा 1 से 1. 2 कि.ग्रा. होती है। शरीर में कुल कैल्सियम का करीब 99% अंश हड्डियों और दांतों में और शेष एक प्रतिशत रक्त और अन्य सभी अंगों में फैला होता है। रक्त में कैल्सियम-स्तर 9 से 10 मि.ग्रा. प्रति 100 मि. ली. होता है।

शरीर में कैल्सियम के मुख्य कार्य

कैल्सियम शरीर के लिऐ अति आवश्यक तत्व है। यह हड्डियों, दांतों को कठोर बनाता है, शक्ति प्रदान करता है। यह स्नायुओं के कार्य, पेशियों के संकुचन तथा अधिकांश ग्रंथियों से स्राव के लिए जरूरी होता है। रक्त थक्का बनने में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शरीर में अनेक ऐन्जाइम के कार्यो के लिए यह आवश्यक होता है।

कैल्सियम की आवश्यकता

सामान्य स्वस्थ व्यक्ति में प्रतिदिन, कैल्सियम की जरूरत 400 मि.ग्रा होती है। महिलाओं में गर्भावस्था के दौरान प्रसव के पश्चात, स्तन-पान कराते समय, तथा रजोनिवृत्ति के बाद एक ग्राम कैल्सियम की प्रतिदिन जरूरत होती है। शिशुओं की बचपन में हड्डियां मुलायम होती है, इस दौरान हड्डियां बढ़ती हैं, और कैल्सियम के लवण जमा होने से कठोर, मजबूत होती है। इस समय कैल्सियम की आवश्यकता 500 मि.ग्रा. होती है। किशोरावस्था में कद तेजी से बढ़ता है, अत: कैल्सियम की जरूरत भी बढ़कर 600 मि.ग्रा. प्रतिदिन हो जाती है।

कैल्सियम के स्त्रोत

कैल्सियम का सबसे उत्तम स्रोत दूध और दुग्ध पदार्थ दही, पनीर, क्रीम चीज इत्यादि हैं दूध में मौजूद कैल्सियम का अवशोषण आंतों से बेहतर ढंग से होता है। एक कप दूध में करीब 300 मि.ग्रा. कैल्सियम होता है।

मछलियों, हरी पत्तेदार सब्जियों, दालों में भी कैल्सियम पाया जाता है। अनाजों से चोकर हटाने, दालों का छिलका उतारने से इनमें कैल्सियम की मात्रा कम हो जाती है।

सब्जियों में मौजूद कैल्सियम का आंतों से अवशोषण इनमें मौजूद ऑक्सैलिक अम्ल की उपस्थिति के कारण

मेडिकल कालेज, कांगड़ा, (हि.प्र.)

कम हो जाता है। अनाजों, दालों के कैल्सियम का भी अवशोषण इनमें मौजूद 'फाइटेंट' के कारण कम सुगमता से होता है। रागी में कैल्सियम प्रचुर मात्रा में होता है, जबकि चावल में कैल्सियम अन्य अनाजों की अपेक्षा कम होता है। भोजन के बाद चाय, कॉफी के सेवन से इनमें मौजूद टैनिन भी आंतो द्वारा कैल्सियम अवशोषण को अवरुद्ध करता है। देश में पान, गुटखे में चूना सेवन से भी शरीर को कैल्सियम मिलता है। पारंपरिक रूप से देश में अनेक क्षेत्रों में गर्भावस्था, और स्तन पान कराने वाली महिलाओं को 'पान' खिलाया जाता था। पीने के जल के द्वारा भी प्रतिदिन 100-200 मि. ग्रा. कैल्सियम शरीर को प्राप्त होता है। आंतों से कैल्सियम अवशोषण द्वारा अस्थियों में जमा होने के लिए विटामिन डी आवश्यक होता है।

कैल्सियम की कमी देश में व्यापक रूप से है, इसकी कमी के कारण आयु के अनुसार समस्याएं होती हैं। बचपन में कैल्सियम और विटामिन 'डी' की कमी होने से रिकेट्स रोग हो सकता है। रोग के कारण विकास गति कम हो जाती है हड्डियां मुलायम हो जाती हैं जिसके कारण विभिन्न वक्रताएं हो जाती है। छोटे बच्चों की खोपडी चपटी, मुलायम होती है, लार देर से बंद होती है, छाती की हड्डियां फूल जाती है, जबकि निचली हड्डियां धंस जाती हैं। बड़े बच्चों में पैर की हडड्यिां मुड़ जाती है चलने पर टखने रगड़ते है। कलाई चौड़ी हो जाती हैं। कमर आगे, पीछे या एक तरफ मुड़ सकती है। विटामिन 'डी' की कमी के कारण रोग प्रतिरोधक क्षमता कम होने से संक्रामक रोग बार-बार होते हैं। यदि उपचार में देरी होती है तो स्थायी विकृतियां हो जाती हैं।

युवाओं और वयस्कों में विटामिन 'डी' की कमी से अस्थि मृदुता (आस्टियोमैलेशिया) रोग, तथा रक्त में कैल्सियम स्तर कम होने से टिटैनी रोग होता है। अस्थिमृदुता विभिन्न गंभीरता से हो सकती है। यह समस्या महिलाओं में विशेषकर पर्दा करने वाली, जल्दी-जल्दी गर्भवती होने वाली महिलाओं में अति सामान्य है। इनमें हड्डियां, मुलायम हो जाती हैं, दर्द होता हैं, मुख्यत: कमर में। कमर मुड़ सकती है, कार्य क्षमता कम हो जाती है, वक्रताएं हो सकती हैं।

यदि रक्त में कैल्सियम स्तर कम हो जाता है तो अनेक गंभीर, घातक समस्याएं होती है। टिटैनी रोग परावटु 'पैरा थायरॉयड' की कमी, विटामिन 'डी' की कमी, रक्त की क्षारता बढ़ने (उल्टी के कारण) क्षारीय पदार्थो का ज्यादा सेवन करने, लंबे समय तक तेज बाहरी सांस लेने के कारण हो सकती है। इससे शरीर में झनझनाहट, सुन्नता महसूस होती है, पेशियों में अकड़न, दर्द होता है। कैल्सियम की कमी के कारण श्वास-तंत्र की पेशियों या हृदय पेशियों के अत्यधिक तेजी से संकुचन से मौत हो सकती है।

हड्डियों में कैल्सियम जमा होने के कारण इनकी अधिकतम सघनता 25-30 वर्ष आयु में प्राप्त हो जाती है। इसके पश्चात धीमी गति से हड्डियों की सघनता कम होने लगती हैं। वृद्धावस्था में कमो-वेश सभी में सघनता कम होती है। जब हड्डियों की सघनता एक सीमा से ज्यादा कम हो जाती है, तो यह अस्थि सुषिरता (ऑस्टियापोरोसिस) रोग कहलाती है। महिलाओं में एस्ट्रोजन हॉर्मोन भी हड्डियों को सघन बनाए रखता है। रजोनिवृत्ति के पश्चात एस्ट्रोजन हॉर्मोन का रक्षाकवच हटने से महिलाओं में तेजी से अस्थि-सघनता कम होती है, अत: अस्थिसुषिरता महिलाओं में रजोनिवृत्ति के बाद व्यापक गंभीर रूप से होती है। प्राय: पुरुषों में अस्थिसुषिरता वृद्धावस्था में होती है। ऑस्टियोपोरोसिस में हड्डियां हल्की, विरल होने से कमजोर हो जाती है, उनमें वक्रता हो सकती है, सूक्ष्म अस्थि-भंग हो सकते है, दर्द होता है, हड्डी मामूली चोट लगने, झटका लगने से टूट सकती है, फिर आसानी से जुड़ नहीं पाती। अस्थिसुषिरता वृद्धावस्था में कष्टों, अपांगता और मौत का मुख्य कारण है। अत: पर्याप्त मात्रा में जीवन पर्यंत कैल्सियम सेवन आवश्यक है, जिससे हड्डियां सघन मजबूत बनी रहें। साथ ही विटामिन 'डी' भी पर्याप्त मात्रा में जरूरी है।

कैल्सियम की अधिकता

रक्त में कैल्सियम 11 मि.ग्रा. प्रति 100 मि.ली. से अधिक बढ़ जाने से भी गंभीर समस्याएं होती हैं। यदि 2 ग्राम से ज्यादा कैल्सियम, 25 माइकोग्राम से ज्यादा विटामिन 'डी' का लंबे समय तक प्रतिदिन सेवन किया जाता है, पैराथायरायड हॉर्मोन का ज्यादा मात्रा में स्राव होने, अत्यधिक मात्रा में लंबे समय तक दूध सेवन करने से, रक्त में कैल्सियम स्तर बढ़ सकता है जिसके कारण केंद्रीय स्नायु-तंत्र की सक्रियता कम हो जाती है, अवसाद-ग्रस्त हो सकते हैं, पेशियां कमजोर हो जाती है, कब्ज होता है, आमाशय में घाव बन सकते हैं, भूख कम हो जाती है, पेट दर्द होता है, हृदय फैल सकता है। गुर्दे व आंतें क्षतिग्रस्त होने लगती हैं। गुर्दो में पथरी हो सकती है, पेशियों, तंतुओं में कैल्सियम जमा होने से वे कड़ी हो जाती है।

कैल्सियम शरीर के लिऐ महत्वपूर्ण खनिज लवण है। इसका सही मात्रा में सेवन करने से हड्डियां मजबूत होती हैं। अब शोधों से सिद्ध हो गया है कि यदि बचपन, युवावस्था में हड्डियां अधिकतम सघनता प्राप्त कर लेती हैं तो प्रौढ़ावस्था में इनके विरल होने और अस्थि-सुषिरता की संभावना कम होती है, वृद्धावस्था में होने वाले कष्टों से बचाव होता है।

कैल्सियम और कैन्सर तथा उच्च रक्त दाब

नवीन शोधों से ज्ञात हुआ है कि कम मात्रा में कैल्सियम सेवन करने वालो में ग्रासनली, बड़ी आंत के कैन्सर युक्त होने की संभावना बढ़ जाती है। यदि भोजन में पर्याप्त मात्रा में कैल्सियम मौजूद होता है तो ग्रासनली बड़ी आंतों एवं कुछ अन्य आंतों के कैन्सर से बचाव होता है। पर्याप्त कैल्सियम सेवन से उच्च रक्त दाब ग्रस्त होने का खतरा भी कम होता है।

मुख्य खाद्य पदार्थों में कैल्सियम की मात्रा

मुख्य खाद्य पदार्थों में कैल्सियम की मात्रा का विवरण नीचे दिया जा रहा है। यह मिलीग्राम प्रति 100 ग्राम के अनुसार है।

बाजरा -	42	बादाम -	230
ज्वार -	25	काजू -	50
रागी -	344	मूंगफली -	90
चावल -	10	चिरौंजी -	279
गेहूं -	41	अखरोट -	100
मैदा -	23	हींग -	690
ब्रेड -	11	मिर्च (सूखी)	160
चना -	202	धनिया -	984
चना दाल -	56	अमूचर -	180
उड़द -	154	मछली -	140-500
साबुत मूंग -	124	अंडा -	60
दाल मूंग -	7	गोश्त -	12
दूध (भैंस) -	210	दूध (गाय) -	149
अरहर -	79	मट्ठा -	30
राजमा -	260	स्किम्ड दूध -	120
सोयाबीन	240	पनीर -	740
बथुआ -	150	खोया -	350
'साग'			
सरसों का -	340	शहद -	5
बंद गोभी -	39	गुड़ -	80
गांठ गोभी -	625	आँवला -	50

मूली पत्ता -	310	केला -	17
पालक -	73	अंगूर -	20
गाजर -	50	अमरूद -	10
प्याज -	40-46	नीबू -	20
आलू -	10	फालसा -	129
शकरकंद -	46	अनन्नास -	20
फूल गोभी -	33	अनार -	10
फली -	50	शरीफा -	27
करेला -	210	सीताफल -	17
बैंगन -	15	टमाटर -	7
पपीता -	25	सूखा नारियल-	400

कैल्सियम की कमी की व्यापकता

अध्ययनों, सर्वेक्षणों से पता चला है कि करीब 80% वयस्क महिलाओं, और 50% वयस्क पुरुषों की आवश्यक मात्रा में भोजन के द्वारा कैल्सियम की पूर्ति नहीं होती। इनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में कैल्सियम की कमी की समस्याए व्यापक रूप से होती हैं। बच्चों में भी कैल्सियम की कमी, विशेष कर यदि बच्चे दूध नहीं पीते तो हो सकती है। मेरा अनुभव है कि कैल्सियम की कमी हर वर्ग में मौजूद है। इसकी कमी उन वयस्क महिलाओं में होना, जो पर्दा करती है, जल्दी-जल्दी गर्भधारण करती है, अपरिहार्य है। हर गर्भवती, और स्तन पान कराने वाली महिला को तो कैल्सियम की गोली या कैप्सूल का सेवन करना ही चाहिए।

हड्डियों को मजबूत, सघन बनाने के लिए सुझाव

हर व्यक्ति को नियमित रूप से 250 से 500 मि.ली. दूध या दुग्ध पदार्थो का सेवन करना चाहिए। वयस्कों को क्रीम निकले दूध या इसी दूध से निर्मित दुग्ध पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

कैल्सियम के शरीर में सुचारु रूप से उपयोग के लिए विटामिन 'डी' की आपूर्ति के लिए कम से कम 15-20 मिनट धूप में टहलें।

हड्डियों को मजबूत और सघन बनाने के लिए मध्यम तीव्रता के व्यायाम नियमित रूप से करें। सिगरेट, तंबाकू, नशीले पदार्थो का सेवन न करें।

❑

6

भारतीय भाषाओं में विज्ञान प्रसारण

प्रो. चंदशेखर पांडे

आज हमें प्रसारण के अनेक माध्यम उपलब्ध हैं जिनके द्वारा विज्ञान के उपयोगी पहलुओं को जनसाधारण तक पहुंचाया जा सकता है। इस पर भी विज्ञान प्रसार के सामने अनेक कठिनाइयाँ है। आज समाज के अनेक वर्ग ऐसे हैं जो अब भी इन माध्यमों के लाभप्रद संपर्क से अछूते रह जाते हैं। जन संपर्क (mass communication) के विभिन्न उपादान केवल समाज के वर्ग-विशेष को ही प्राप्त हैं। इस वर्ग की पहुँच इस प्रकार के एक से अधिक उपादानों तक होती है। शहरी क्षेत्रों में रहने वाले परिवारों के पास रेडियो, टेलीविजन, वीडियो तथा संभवत: इंटरनेट की सुविधाएं भी होती है। वे नियमित रूप से समाचारपत्र एवं पत्रिकाएं प्राप्त कर सकते हैं, परंतु यदि देखा जाए तो इस वर्ग द्वारा भी इन माध्यमों का अधिकतम उपयोग केवल शिक्षा-रहित मनोरंजन के लिए ही किया जाता है। कारण यह है कि उक्त समाज में विवेकपूर्ण मार्गदर्शन की स्पष्ट कमी है। ग्रामीण भारत की कहानी इससे सर्वथा भिन्न है। वहाँ जनसंपर्क के उपादानों की पहुंच या तो है ही नहीं या अपर्याप्त है। प्रश्न यह उठता है कि क्या उपलब्ध संसाधनों के द्वारा इस स्थिति में सुधार संभव है?

पिछले वर्ष केंद्रीय भारतीय भाषा संस्थान (सी.आई.आई.एल) की एक संगोष्ठी में मैंने रेडियो को विज्ञान-प्रसारण का तीन 'स' वाले एक सशक्त, सस्ते तथा सुलभ माध्यम के रूप में उपयोगी माध्यम कहा था। एक और 'स' की आज आवश्यकता है और वह है इसे सर्वप्रिय बनाना। 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि,' इस उक्ति के 'कवि' को रेडियो हटा सकता है। इसके लिये प्रशासन की सहायता की भी आवश्यकता है कि विज्ञान संबंधी रेडियो प्रसारण को कुछ और नियमित समय दिया जाए।

विज्ञान प्रसारण से संबंन्धित तीन अलग-अलग पहलुओं के विषय में मेरे विचार इस प्रकार है:

1) **विज्ञान-शिक्षण के सुधार** : आज प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर की कक्षाओं में विज्ञान के शिक्षण में सुधार लाने की अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि यह अत्यधिक अदूरदर्शिता से ग्रस्त हो गया है। इसका लक्ष्य संकुचित हो गया है। आज की इस पढ़ाई से विद्यार्थी के मानस में विचारों के मंथन के लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिये उसका आचरण लकीर के फकीर की भाँति हो गया है। इसी आयु में मनुष्य के अंतर में जो नींव बननी चाहिए थी वह नहीं बनती, और जिज्ञासाहीन व्यक्तित्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वंचित रह जाता है। इस शिक्षा में अंत:क्रियात्मक संचार के लिये कोई स्थान नहीं होता क्योंकि वहाँ न कोई मुक्तोत्तर (open ended) प्रश्न पूछे जाते हैं न इस प्रकार के उत्तरों का स्वागत ही किया जाता है। पढ़ाई में विघ्न न हो इसलिये इन तथाकथित 'अतिरिक्त' बातों को 'इधर उधर की बातें' माना जाता है। विद्यार्थियों में इस ह्रास के लिए शिक्षक तथा माता-पिता सभी उत्तरदायी है।

*बी-3 एवरेस्ट हाउसिंग कॉम्प्लेक्स, समर हील शिमला - 171005 हि. प्र.

मेरी व्यक्तिगत धारणा और सुझाव है कि यदि स्कूलों में केवल एक घंटा प्रति सप्ताह भी ऐसी कक्षाओं की व्यवस्था की जाए जहाँ विज्ञान-संबंधी किसी भी प्रकार के प्रश्न एवं उत्तरों को प्रोत्साहन मिले, तो विज्ञान के शिक्षक, विज्ञान-प्रचारक की महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। वर्तमान संसाधनों को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार की व्यवस्था कर पाना कठिन नहीं होगा।

मैंने स्वयं कई ग्रामीण विद्यालयों में अलग-अलग स्तर के विद्यार्थियों के सामने साधारण से दीखने वाले और सभी के द्वारा अनुभव किए जाने वाले कुछ प्रश्नों को रखा। मैंने अनुभव किया कि पूर्ण रूप से संतोषजनक उत्तर नहीं प्राप्त हुए। कुछ प्रश्नों का उल्लेख मैं यहां करना चाहूँगा। जब मैंने उन्हें परिमार्जित कर वैज्ञानिक तथ्यों का आधार दिया, तो मुझे लगा कि उन्हें इससे संतोष मिला। कुछ प्रश्न इस प्रकार थे:

(i) साबुन द्वारा धोने पर हमारे हाथ या वस्त्र केवल पानी से धोने की अपेक्षा अधिक साफ क्यों धुलते है?

वातावरण में व्याप्त चिकनाई (तेल, ग्रीज) हाथों तथा कपड़ों में चिपक जाती हैं और मैल के कण इस चिकनाई से जुड़ जाते है यही मैल है। साबुन के अणु कुछ इस प्रकार के होते हैं कि उनका एक सिरा तो पानी से बंधों द्वारा जुड़ जाता है तथा दूसरा सिरा चिकनाई के कणों को घोल लेता है। फल यह होता है कि चिकनाई साबुन के साथ पानी में चली जाती है और धूल के कण मुक्त हो जाते हैं तथा पानी के साथ-साथ बह जाते हैं।

(ii) साधारण कागज (अख़बारी कागज) रखे-रखे और विशेष रूप से प्रकाश की उपस्थिति में पीला क्यों पड़ जाता है?

कागज लकड़ी से बनाया जाता है तथा लकड़ी मुख्य रूप से सेलुलोस तथा लिग्निन के परस्पर संयोग से बनती है, कागज बनाने के लिये लकड़ी की लुगदी से लिग्निन को हटाना होता है, लेकिन साधारण कागज बनाते समय लिग्निन को पूर्ण रूप से हटाने का प्रयास नहीं किया जाता। कागज में बचा हुआ लिग्निन हवा की ऑक्सीजन से ऑक्सीकृत होकर रंगीन द्रव्य बनाता है जिससे कागज पीला पड़ जाता है। ऑक्सीकरण की यह क्रिया प्रकाश की उपस्थिति में अधिक तेजी से होती है। इसे 'प्रकाशी ऑक्सीकरण' कहते है।

(iii) कुछ प्रकार के कागजों में स्याही से लिखने पर वह फैलने लगती है (जैसे ब्लॉटिंग पेपर) तथा कुछ कागजों में वह नहीं फैलती (जैसे लिखने का बढ़िया कागज), क्यों?

लिखने वाला अच्छा कागज बनाने से पहले लकड़ी की लुगदी में कुछ मात्रा में राजिन तथा फिटकरी का घोल मिलाया जाता है। इससे कागज में ऐलुमिनियम रेजिनेट की हल्की पर्त बन जाती है। ऐसा कागज अधिक पानी सोखने में असमर्थ होता है। फल यह होता है कि स्याही कागज पर नहीं फैलती। ब्लॉटिंग पेपर में पानी सोखने का गुण होना चाहिए। इसलिए उसे चिकना नहीं किया जाता।

(iv) साधारण लोहे के डिब्बे को गीले सीमेंट या संगमरमर के फर्श पर लंबे समय तक रखने से उस पर पक्का, दाग पड़ जाता है, क्यों?

संगमरमर कैल्सियम कार्बोनेट है तथा सीमेंट में सिलिकेट लवण होते है। जल की उपस्थिति में लोहा इन पदार्थो से क्रिया कर आयरन कार्बोनेट तथा आयरन सिलिकेट बना देता है। यह जल में अघुलनशील दाग है।

(v) क्या आपने कभी सोचा है कि चीड़-देवदार के वृक्षों में पाए जाने वाले रेजिन की क्या उपयोगिता है?

चीड़-देवदार जाति के वृक्षों के प्राय: सभी अंगों में विशेष रेजिन पाए जाते हैं, जो कीटनाशी होते हैं। इनसे लकड़ी को हानि पहुँचाने वाले कीड़े मर जाते हैं और वृक्ष स्वस्थ रहते हैं। चीड़ के रेजिन से तारपीन का तेल निकाला जाता है जिसका उपयोग लकड़ी से बनी वस्तुओं को कीड़ों से बचाने के लिए किया जाता है इसका एक अवयव पाइनोसिल्विन है, जो तीव्र कीटनाशी है।

2) **नुक्कड़ नाटक:** सभी ने कभी-न-कभी अनुभव किया होगा कि नुक्कड़ नाटक अपनी सरलता और लगभग शून्य लागत के कारण भीड़ इकट्ठा करने और अपनी बात दर्शकों तक पहुँचाने के सर्वप्रिय साधन हैं। नुक्कड़ नाटकों का उपयोग वैज्ञानिक सोच को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिये किया जा सकता है यदि कुछ विद्यार्थियों को प्रेरित किया जा सके तो छोटे शहरों या गाँवों में इनके द्वारा सामान्य विज्ञान के विषयों में जागरूकता उत्पन्न की जा सकती है। विषय स्थान-विशेष की समस्याओं से जुड़े हो तो अधिक प्रभावशाली हो सकते है। कुछ सामान्य विषय इस प्रकार है:

- वैयक्तिक स्वास्थ्यविज्ञान (पर्सनल हाइजीन)
- पर्यावरण और उसका संरक्षण (अनेक पहलू)
- जलप्रबंधन
- मिथक, अंधविश्वास और उनकी वैज्ञानिक व्याख्या

3) **विज्ञान में भारत का योगदान:** भारत में प्राय: प्राथमिक स्तर पर विज्ञान की शिक्षा में एक कमी का आभास होता है और वह है विज्ञान की प्रगति में भारत के योगदान के प्रति अज्ञानता। विज्ञान की शिक्षा लेकर जो विद्यार्थी हमारे विद्यालयों से निकलते हैं, उनके मन में यह धारणा रहती है कि विज्ञान हमें पश्चिम से उपहार के रूप में मिला है और भारत के वैज्ञानिकों का योगदान इसमें नगण्य है। वस्तुत: पाश्चात्य देशों से बहुत समय पहले से ही भारत विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में कहीं आगे था। अत: प्राचीन भारतीय विज्ञान की उपलब्धियों को विद्यार्थियों के समक्ष अवश्य रखना चाहिए।

4) **भारतीय भाषाओं में विज्ञान:** अंत में, भारतीय भाषाओं में विज्ञान-शिक्षण की समस्या पर एक दृष्टि डालनी होगी। राज्यों की ग्रंथ अकादमियों ने आरंभ में कुछ कार्य किया था जिसकी प्रगति संतोषजनक नहीं है। उसके पुनरवलोकन एवं संशोधन की नितांत आवश्यकता है। विश्व भर में अपनी अधिक मांग के कारण अंग्रेजी भाषा में नई-नई पुस्तकें नियमित रूप से प्रकाशित होती हैं। विज्ञान में नये तथ्यों की जानकारी से संबद्ध रहने के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अंगरेजी पुस्तकों का सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद प्रस्तुत करने के लिए समयबद्ध कार्यक्रम बनाना और उन्हें कार्यान्वित करना विज्ञान-शिक्षा के लिए अब अनिवार्य प्रतीत होता है।

❑

7

विज्ञान लेखन का बदलता स्वरूप

डॉ.शिव गोपाल मिश्र

हिंदी में विज्ञान लेखन की दीर्घकालीन परंपरा चली आ रही है। खड़ी बोली के विकास के साथ-साथ इसका पल्लवन होता रहा है। 1900 से ही '*सरस्वती*', 'सुधा, *माधुरी, विशाल भारत, वीणा* जैसी साहित्यक पत्रिकाओं में इसने अपना स्थान बनाना प्रारंभ किया और 1915 में *विज्ञान* पत्रिका के प्रकाशन के साथ युगांतर आ गया। विज्ञान-लेखक खुलकर एक नए मंच पर संगठित होते नजर आऐ किंतु स्वतंत्रता-पूर्व हिंदी में विज्ञान लेखन सुसंगठित नहीं हो पाया था। विज्ञान की नीरसता सभी के मन मस्तिष्क में घर किए रही। सूचना के नाम पर विषयवस्तु को अपने ढंग से ढाला जाता था। पारिभाषिक शब्दों से बचने का प्रयास किया जाता था। जिन दो मुख्य विषयों पर सर्वाधिक लेखन हो रहा था वह कृषि और स्वास्थ्य जैसे उपयोगी विषयों को लेकर था। कुछेक विज्ञान स्नातक या इंजीनियर ही विज्ञान की मूलभूत बातों, वैज्ञानिकों की जीवनियों और विदेश में हो रहे वैज्ञानिक अनुसंधानों को प्रस्तुत कर रहे थे। विज्ञान-लेखन में चलताऊ निबंध शैली को प्रश्रय मिल रहा था। इनमें से कुछ लेखक कहानी या आत्मकथात्मक रूप में वैज्ञानिक विषयों को प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे थे। भाषा का स्वरूप अनगढ़ था। यहां पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल का यह अभिमत प्रासंगिक लगता है। ''आजकल 1978 के बाद भाषा की बुरी दशा है। बहुत से लोग शुद्ध भाषा लिखने का अभ्यास होने के पहले ही बड़े-बड़े पोथे लिखने लगते हैं, जिसमें व्याकरण की भद्दी भूलें तो रहती ही हैं, कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास तक ठीक नहीं रहता। यह बात और किसी भाषा के साहित्य में शायद ही देखने को मिले''। कुछ अनुवाद भी हो रहे थे। बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में कुछेक साहित्यकार भविष्य दृष्टि का परिचय दे रहे थे। उन्होंने ऐसे विषयों पर लिखा, जिनकी उनसे उम्मीद नहीं की जा सकती थी। उसका एकमात्र उद्देश्य हिंदी के ज्ञान-विज्ञान भंडार को समृद्ध करना था। वे अंग्रेजी साहित्य पढ़-पढ़कर लोकरंजन हेतु हिंदी में उसे प्रस्तुत कर रहे थे।

फिर भी कालांतर में कुछेक वैज्ञानिक अच्छे विज्ञान-लेखक बन सके। उन्होंने मौलिक ग्रंथों की रचना भी की और उनके ग्रंथ पुरस्कृत भी हुए। इस तरह विज्ञान-लेखन को क्रमश: मान्यता मिलने लगी। हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों में विज्ञान परिषदों की योजना, लेखन लोकप्रियकरण की दिशा में प्रारंभिक प्रयास था। इस तरह देश में हिंदी के माध्यम से वैज्ञानिक अभिरुचि का सृजन हो सका। किंतु शिक्षा जगत् में विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन में हिंदी बहिष्कृत बनी रही। कुछेक राष्ट्रवादी लेखकों को ही हिंदी में विज्ञान-लेखन के भविष्य की चिंता थी। वे पारिभाषिक शब्दों के गढ़े जाने के प्रति सचेष्ट थे। वे विश्वकोश की भी रचना में जुटे थे। नागरी प्रचारिणी सभा तथा विज्ञान परिषद्, प्रयाग विज्ञान-लेखकों को संगठित करने में लगी थीं। लेखक लगातार लिखते जा रहे थे। उनकी पुस्तकें चर्चित हो रही थीं, किंतु प्रथम संस्करण

प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद, प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

की 1000 प्रतियां दशकों में भी बिक नहीं पाती थीं। प्रकाशक उदार बने रहे, किंतु उनकी ओर से कोई प्रेरणा नहीं थी। विज्ञान-लेखन मात्र चर्चा का विषय और मनोरंजन बना हुआ था। विज्ञान कथा, यात्रा, संस्मरण, जीवनी साहित्य पर प्रयोग चल रहे थे।

विज्ञान पत्रकारिता जैसी विधा के विषय में दूरगामी सोच नहीं थी। विशुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में केवल विज्ञान ही एकमात्र पत्रिका थी। उसके संपादक लेखकों में से ही कोई न कोई बनते रहे। हाँ, कृषि-क्षेत्र में अनेक पत्रिकाएँ (1910-1947) मिलती है, ये पटना, आगरा, उन्नाव, प्रयाग, कानपुर आदि से छप रही थी। उनकी ग्राहक संख्या का तो ज्ञान नहीं है, किंतु कृषि और आयुर्वेद के क्षेत्र में उपयोगी जानकारी इन पत्रिकाओं में दी जा रही थी। इन दोनों विषयों पर पुस्तकों की संख्या भी प्रचुर थी जिनमें से कुछ पाठ्य-पुस्तकों के रूप में काम आती थीं। ज्योतिष पर 1840 से ही पुस्तकें लिखी जाने लगी थी। इनमें प्रयुक्त शब्दावली संस्कृत से गृहीत थी। *सूर्य सिद्धांत का विज्ञान-भाष्य और सौर परिवार* जैसे मानक ग्रंथ प्रकाश में आ चुके थे। भौतिकी, रसायन, गणित, प्राणि विज्ञान तथा वनस्पति विज्ञान पर भी प्रारंभिक पुस्तकें लिखी गईं, किंतु वे छात्रोपयोगी ही थीं।

किंतु स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद जब हिंदी राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित हुई तो उत्साह में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। लेखक और प्रकाशक समान रूप से जागृत हुए। सर्वप्रथम विदेशी पुस्तकों के अनुवाद का दौर चला और दिल्ली के कई प्रकाशकों ने ऐसी पुस्तकों को तुरंत छाप दिया। इन अनुवादों की तर्ज पर मौलिक लेखन की शुरूआत हुई। अत: बच्चों को लक्ष्य करके कहानी के रूप में भौतिकी, रसायन तथा जीवविज्ञान के विविध विषयों पर छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी गई।

भारतीय पाठ्य पुस्तकों के विषय में शिक्षाविदों की राय कभी भी अनुकूल नहीं थी। उदाहरणार्थ अधिकांश भारतीय पाठ्य-पुस्तकों में तथ्यों का नीरस सार है। उनमें न तो सिद्धांतों की ठीक पहचान की गई है न ठीक से विवेचन हुआ है। उनमें से बहुत सी केवल पाठ्यक्रम, परीक्षा और विदेशी पुस्तकों का संमिश्रण मात्र हैं। अभी तक ऐसी भाषा जो गंभीर हो, तर्कपूर्ण हो मगर नीरस न हो, और कुशाग्र मगर बोधगम्य हो, हमारी पाठ्य पुस्तकों के लिए विकसित होनी है।

स्वतंत्रतापूर्व बालोपयोगी साहित्य भी रचा गया। पक्षियों, जीवों, आविष्कारों, ब्रह्मांड, पृथ्वी, बिजली आदि पर छोटी-छोटी सचित्र पुस्तकें लिखी गई। कुछ लेखक केवल बालविज्ञान लेखन में लगे रहे।

अनुप्रयुक्त विज्ञान-औद्योगिकी या प्रौद्योगिकी पर भी लेखकों की दृष्टि गई। आविष्कारों और आविष्कर्ताओं के विषय में भी लिखा गया। उस समय सामग्री जुटा पाना कठिन था, फिर भी हिंदी में विज्ञान के सभी पक्षों को उर्वर बनाने के प्रयास हो रहे थे। पाठकगण भी लेखकों की वाहवाही कर रहे थे। किंतु जिस स्तर के विज्ञान-लेखन की आवश्यकता थी वह नहीं हो पा रहा था। गति मंद थी। भाषा और शैली दोनो ही दृष्टि से अनगढपन था।

हालांकि पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में किया गया किंतु बीसवीं सदी के प्रारंभ में ही नागरी प्रचारिणी सभा ने इस दिशा में कुछ कार्य किया। कुछेक शब्दशास्त्रियों ने स्वयं पारिभाषिक कोश रचे किंतु इन पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का अर्थ था अंग्रेजी शब्दों के हिंदी पर्याय गढ़ना। एक तरह से मानों हिंदी में विज्ञान-लेखन को अनुवाद-परक बनाने का ही यह प्रयास था। दुर्भाग्यवश आज तक हम इस मनोवृत्ति से उबर नहीं पाए। यदि हमें कोश बनाना पड़ता है तो अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार। इसका अर्थ यही हुआ कि हम अंग्रेजी में सोचे और उसका हिंदी रूपातंरण करते हुए लिपिबद्ध करें और यदि हिंदी से अंग्रेजी की दिशा में बढना हो तो यह दुरूह प्रतीत हो। हमारे बड़े-बड़े वैज्ञानिक अंग्रेजी में ही शिक्षा प्राप्त करने के कारण हिंदी में

अपने विचार व्यक्त करने में कठिनाई का अनुभव करते रहे, और जब आज के विद्यार्थी शुद्ध हिंदी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं तो वे उन्हें कठिन लगते हैं। यह मनोवृत्ति देश के वैज्ञानिक जगत् में व्याप्त रही है। यही हिंदी के उन्नयन में, हिंदी की प्रयोजन-मूलकता में सबसे बड़ा व्यवधान रहा है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद स्थिति में सुधार आता गया। उसका मुख्य कारण था वैज्ञानिक प्रगति के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की आवश्यकता की अनुभूति और नए लेखकों में नया उत्साह। उसी के फलस्वरूप ऊर्जा, पर्यावरण, कम्यूटर, जैव प्रौद्योगिकी, सूचना प्रौद्योगिकी जैसे क्षेत्रों में लेखन के प्रयास किए गए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि हिंदी का लेखन अंग्रेजी या विदेशी भाषाओं के समतुल्य या समान स्तर पर चल रहा था, किंतु इससे पाठकों में हिंदी में लिखी गई पुस्तकें या लेख पढ़ने की अभिरुचि उत्पन्न हुई। अंतरिक्ष अनुसंधान ने तो नया रोमांच ही उत्पन्न कर दिया। इससे उत्साहित होकर विज्ञान-कथाएँ लिखी जाने लगीं। आविष्कारों और आविष्कारकों के विषय में गहनतापूर्वक लेखन हुआ। अंटार्कटिका की यात्राओं ने यात्रा-साहित्य को जन्म दिया। देश में राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की स्थापना के बाद उनकी उपलब्धियों के विवरण आवरण कथा के रूप में दिए जाने लगे। अनेक समाचार-पत्रों में विज्ञान-सामग्री नियमित रूप से छपने लगी। अनेक सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थानों से श्रेष्ठ लेखन के लिए पुरस्कार भी दिए जाने लगे। इस तरह बीसवीं सदी के अंत तक हिंदी में विज्ञान-लेखन सही मार्ग पर चल पड़ा।

किंतु विगत एक दशक में जो नई प्रवृत्तियां उभर कर आई हैं, वे अत्यंत मुखर हैं। उदाहरणार्थ:

1) बड़े-बड़े वैज्ञानिक अपनी जीवनी, अपने संस्मरण एवं अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों को प्रकाश में ला रहे हैं। इसका ताजा उदाहरण राष्ट्रपति अब्दुल कलाम की तीन पुस्तकें हैं। वे बच्चों के लिए एवं अभिभावकों तथा शोधार्थियों के लिए अत्यंत प्रेरणाप्रद हैं। इसी तरह की एक सर्वथा नई विधा '*अनुरोधनामा*' नामक पुस्तक में देखने को मिलती है जो संस्कृत की पंचतंत्र कहानियों का स्मरण दिलाती हैं। इसके लेखक डॉ. विष्णुदत्त शर्मा है।

2) इधर कुछ वर्षों से अनवरत विज्ञान-कथाओं का लेखन, अभियान का रूप ले चुका है। विज्ञान-कथा विषयक एक पत्रिका भी निकलने लगी है जिससे एक दर्जन अच्छे कहानी लेखक उत्पन्न हुए हैं। आशा है कि निकट भविष्य में यह विधा मराठी तथा बंगला की गल्पविधा के समकक्ष पहुंच सकेगी।

3) कविता के क्षेत्र में भी नई रूझान दिखती है। '*विज्ञानांजलि*' नामक पुस्तक में हमने 1936 से लेकर 1997 तक की विज्ञान विषयक कविताएं संगृहीत करके यह बताने का प्रयास किया था कि हमारे विज्ञान लेखकों में प्राय: सभी विषयों पर मौलिक सूझ है। इधर *विज्ञान कथा सागर* के रूप में भारतीय विज्ञान का पद्यबद्ध इतिहास डॉ. श्रवण कुमार तिवारी ने प्रस्तुत किया है। इनके पूर्व *गणित विविधा* पुस्तक डॉ. हश्चिंद्र शर्मा ने लिखी।

4) विगत 150 वर्षों के विज्ञान-लेखन की उपलब्धियों को रूपायित करने के लिए 'विज्ञान प्रसार' की ओर से जो पहल की गई उसके फलस्वरूप विज्ञान परिषद् ने विज्ञान विषयक निबंधों के चार संकलन संपादित किए हैं। ये विषय वस्तु, भाषा एवं शैली की दृष्टि से अद्भुत संकलन है। किसी भी आलोचक तथा शोधकर्ता के लिए ये प्रामाणिक सामग्री प्रदान करने वाले हैं।

5) यही नहीं, इस दशक में विज्ञान-लेखन के इतिहास की आवश्यकता का अनुभव किया गया। फलस्वरूप शब्दावली आयोग की पाठमाला योजना के अंतर्गत डा. शिवगोपाल मिश्र ने दो खंडों में

यह इतिहास लिखकर सर्वथा नवीन प्रयोग किया है।

6) यद्यपि स्वतंत्रतापूर्व और स्वतंत्रता के बाद तीन चार विश्वकोशों की रचना हो चुकी थी, किंतु विगत 30 वर्षों में विज्ञान में जो नई-नई खोजें हुई हैं और जो नए-नए विचार एवं संकल्पनाएँ प्रस्तुत हुई हैं उनको समाहित करते हुए नवीन विश्वकोश की रचना अत्यावश्यक थी। प्रभात प्रकाशन ने एक ऐसा ही विश्वकोश प्रकाशित करके मार्गदर्शन किया है। यही नहीं, उन्होंने रसायन तथा भौतिकी के कोश भी प्रकाशित किए हैं। आवश्यकता है कि विगत दस वर्षों में लिखी गई श्रेष्ठ पुस्तकों की विस्तृत समीक्षा की जाए और उनके आधिकारिक प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठाया जाय। स्वस्थ लेखन के लिए ऐसी समीक्षा परमावश्यक है।

आज कृषि, स्वास्थ्य, चिकित्सा, भौतिकी आदि सभी विषयों के अनेक लेखक हैं। कुछ इंजीनियर और डॉक्टर भी लेखन के क्षेत्र में उतरे हैं जिससे तद्विषयक लेखन में प्रामाणिकता आई है।

आवश्यकता है कि लेखन में शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित हिंदी की पारिभाषिक शब्दावली का निरंतर उपयोग तथा परिष्कार किया जाए। यद्यपि विज्ञान की जो भी थोड़ी पत्रिकाएं हैं उनका रूप निखर रहा है। उत्तम आवरण-कथाएँ, रिपोर्टिंग, साक्षात्कार, विज्ञान कथाएँ, नाटक, कविताओं को स्थान मिल रहा है, किंतु उनमें अभी सुधार की गुंजाइश है। जैव प्रौद्योगिकी तथा सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अनुभवी तथा सक्षम लेखकों के पदार्पण की आवश्यकता है।

अंत में एक बात का स्पष्ट निर्देश आवश्यक है। हिंदी में विज्ञान-लेखन की स्वस्थ परंपरा को कायम करने के लिए, चाहे थोड़े ही ग्रंथ लिखे जाएं किंतु वे सुविचारित ढंग से रचे जाएं, जिससे वे गौरव ग्रंथ बन सकें। मैं किसी एक लेखक द्वारा अनेक विषयों पर अनेकानेक या शताधिक पुस्तकें लिख कर वाहवाही लूटने का समर्थक नहीं बनना चाहूँगा। मैंने अनुभव किया है कि आजकल प्रकाशकों में नए-नए लेखकों से पुस्तकें लिखाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। ध्यान रखना चाहिए कि इससे वैज्ञानिक साहित्य के नाम पर चर्वित चर्वण या पिष्ट-पेषण को बढ़ावा न मिले। यह उत्तम वैज्ञानिक लेखन या विज्ञान-साहित्य के लिए गौरव का विषय नहीं है। अत: केवल ऐसी वैज्ञानिक रचनाओं को प्रश्रय दिया जाना चाहिए जिनमें विषय की गंभीरता, शब्दावली की प्रामाणिकता और शैली की सुकमारता विद्यमान हो।

❑

8

भूगोल-विषयक हिंदी लेखन एवं तकनीकी शब्दावली

डॉ. ओंकार प्रसाद, डॉ. कैलाश सिंह यादव***

भूगोल का अंग्रेजी पर्याय Geography शब्द यूनानी भाषा के Ge तथा Grapho से मिल कर बना है। 'जी' का अर्थ है पृथ्वी तथा 'ग्राफो' का अर्थ है वर्णन करना। इस प्रकार इस शब्द का सामान्य अर्थ है- पृथ्वी का वर्णन करना। लेकिन 'भूगोल' शब्द से उपर्युक्त अर्थ का बोध नहीं होता। तथापि भूगोल शब्द Geography के हिंदी पर्याय के रूप में प्रचलित हुआ। इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि तकनीकी रूप से प्रचलित हिंदी का कोई शब्द तथ्यों का पूर्ण स्पष्टीकरण न करते हुए भी यदि प्रचलन में रूढ़ हो जाए तो वह सर्व मान्य और संपूर्ण अर्थ का द्योतक होता है।

भूगोल का ऐतिहासिक संदर्भ

भूगोल विषय की विषय सामग्री पृथ्वी के वर्णन से संबधित है। अत: Geography शब्द के जन्मदाता इरेस्टोथेनीज (276-194 ई. पूर्व) ने Geographica नामक ग्रंथ के माध्यम से इस विषय को पहचान दी और 'पृथ्वी तत्व मानव का निवास' के अध्ययन को भूगोल की विषयवस्तु माना।

यद्यपि भारत में वैदिक साहित्य में, पुराणों व उपनिषदों में, रामायण एवं महाभारत में तथा अन्य अनेक पौराणिक ग्रंथों में भौगोलिक अर्थात् पृथ्वी तत्व के वर्णन संबंधी अनेकानेक विवरण मिलते हैं, परंतु विषय के विकास का श्रेय यूनानियों को है। प्राचीन यूनान, रोम एवं अरब साम्राज्य में भूगोल का विकास हुआ। भारत में भी प्राचीन काल में भूगोल का विकास हुआ, तभी सर्व प्रथम जर्मनी के वारेनियरा (1622-1650 ई.) ने Geographia Generalis के द्वारा भूगोल विषय को स्थापित किया। वे प्रथम भूगोलवेत्ता थे जिन्होंने भौतिक और मानव भूगोल में मूलभूत अंतरों को प्रस्तावित किया। तत्पश्चात् जर्मनी, फ्रान्स, ग्रेट ब्रिटेन, सं.रा. अमेरिका, रूस एवं विश्व के अन्य देशों में भूगोल का विकास एवं शिक्षण आरंभ हुआ।

भारत में हिंदी में भूगोल-लेखन

उच्चस्तरीय शिक्षण-विषय के रूप में भूगोल की शुरूआत भारत में यूरोपीय देशों की अपेक्षा बहुत बाद में हुई। प्रो. जगदीश सिंह ने अपनी पुस्तक भौगोलिक चिंतन का क्रम-विकास में लिखा है: "बीसवी शताब्दी में देश के प्रबुद्ध वर्ग का सारा ध्यान देश की स्वतंत्रता हासिल करने की ओर लगा था। अंग्रेजों के शासनकाल में विद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती थी, उसका उद्देश्य प्रशासन चलाने हेतु क्लर्क एवं निम्न स्तर के अधिकारी पैदा करना होता था न कि विचारक। अतएव भूगोल का अध्यापन विश्व का संक्षिप्त परिचय देने मात्र तक सीमित था। भारत में अंग्रेजी ही विदेशी ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम थी। अतएव विद्यालय स्तर पर भूगोल की जो शिक्षा दी जाती थी वह भी इंगलैंड में प्रचलित भूगोल की होती थी।"

* रीडर भूगोल, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कानपुर ** राजकीय महाविद्यालय, भदोही

भारत में विश्वविद्यालय-स्तर पर भूगोल का अध्ययन-अध्यापन पंजाब विश्वविद्यालय से संबद्ध एक कॉलेज में 1920 में, पटना विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में 1929 में, एवं अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में 1928 में आरंभ हुआ। इसके बाद सेंट जॉन्स कॉलेज, आगरा (1935), इलाहाबाद विश्वविद्यालय (1937), कोलकाता विश्वविद्यालय (1939) और बलबंत राजपूत कॉलेज, आगरा (1940) से बी.ए. की कक्षाएं आरंभ हुई जिनका माध्यम अंग्रेजी भाषा थी। स्नातकोत्तर स्तर पर अलीगढ़ में 1936 से, कोलकता में 1941 से, वाराणसी और इलाहाबाद में 1946 से, लुधियाना और मद्रास में 1948 से तथा पटना में 1949 से भूगोल अध्यापन आरंभ हुआ, जिनका माध्यम भी अंग्रेजी ही थी।[4]

इस प्रकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत भारत में भौगोलिक शिक्षण के प्रति चेतना तो बढ़ी परंतु माध्यम अंग्रेजी बना रहा। सन् 1955 में हिंदी में एक पुस्तक *भूगोल के आधार* (मूल लेखक प्रीरा एवं वुड की Foundation of Geography का हिंदी रूपांतरण डॉ. अमर नाथ कपूर) का संदर्भ मिलता है जिसके प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है कि यह पुस्तक हाई स्कूल, हायर सेकंडरी, इंटमीडिएट के छात्रों की आवश्यकताओं को पूरा करती है।[5] डॉ. चतुर्भुज मागोरिया द्वारा लिखित पुस्तक *आर्थिक और वाणिज्य भूगोल* के प्रथम संस्करण 1957 के प्राक्कथन लेखक प्रो. डॉ. राम लोचन सिंह ने लिखा है ''हिंदी भाषा में विश्वविद्यालयों की कक्षाओं के लिए लगभग 1200 पृष्ठों की भूगोल की यह पहली पुस्तक है''। इसी पुस्तक के प्रथम संस्करण में 'दो शब्द' के अंतर्गत लेखक ने लिखा है कि ''भूगोल के शिक्षक एवं विद्यार्थी होने के नाते मेरी यह प्रबल इच्छा रही है कि यदि भूगोल के विभिन्न विषयों पर उच्च कक्षाओं के निमित्त प्राथमिक पाठ्य और सहायक पुस्तकें हिंदी भाषा में लिखी जाए तो देश के भावी नागरिकों के ज्ञान की अभिवृद्धि इस विषय में भली-भांति हो सकती है। संभवत: वी.ए. और एम.ए. की कक्षाओं के लिए आर्थिक और वाणिज्य भूगोल के पाठ्यक्रमानुसार यही पहली पुस्तक है जो हिंदी भाषा में प्रकाशित हो रही है।''[6]

इसी प्रकार *भूगोल की प्रकृति* नामक पुस्तक डॉ. लेखराज सिंह ने जो प्रो. रिचार्ड हार्ट शॉर्न की प्रसिद्ध पुस्तकों 'The Nature of Geography' (1939) एवं 'Perspective on the Nature of Geography" (1959) का अनुकूलन करते हुए लिखी है, यह एक मील का पत्थर है। इस पुस्तक की प्रस्तावना में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अध्यक्ष, शास्त्री मंडल, उ.प्र. हिंदी ग्रंथ अकादमी ने लिखा है'' शिक्षा अयोग (1964-66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा संबंधी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी 1968 को संसद् के दोनों सदनों द्वारा इस संदर्भ में एक संकल्प पारित किया गया। इस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विशविद्यालय स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अंतर्गत भारत सरकार की शत प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रंथ अकादमी की स्थापना की गई। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने के लिए उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी की स्थापना 07 जून 1970 को की गई। प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है। उपर्युक्त योजना के अंतर्गत प्रस्तुत पुस्तक उ.प्र. हिंदी ग्रंथ अकादमी के अंतर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित कराई गई है।''[7]

इसी पुस्तक के 'परिचय' में प्रो. डॉ. रामलोचन सिंह ने लिखा है ''हिंदी में प्रामाणिक वैज्ञानिक शब्दावली अभी तक पूर्ण विकसित नहीं हो पाई है। साथ ही सरकार द्वारा जो शब्दावली तैयार की गई है उसका प्रचलन विद्यार्थियों एवं अध्यापकों में नहीं हो पाया है। साथ ही भूगोल के बहुत से शब्दों और शब्दावलियों का तो अभी तक **समावेश** ही नहीं हो पाया है।''

हिंदी भाषांतर्गत पुस्तकों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इस विषय की शब्दावली अभी भी अपूर्ण है। उदाहरण के लिए इस विषय के कतिपय अंग्रेजी शब्द एव अनके लिए प्रचलित। प्रमाणिक हिंदी शब्दों का विवरण नीचे तालिका में प्रदर्शित है।

ऊपर मोटे अक्षरों में मुद्रित शब्द (हिंदी पर्याय) वैज्ञानिक

तालिका: भूगोल में प्रचलित कतिपय तकनीकी शब्द

क्रमांक	अंग्रजी शब्द	हिंदी की भूगोल की पुस्तकों में प्रचलित शब्द
1.	Environmental Determinism	नियतिवाद, निश्चयवाद, वातावरणवाद, निर्णयतवाद, वातावरणीय निश्चयवाद, पर्यावरणीय निश्चयवाद
2.	Rock	चट्टान, शैल
3.	Scale	मापक, मापनी, मानदंड, पैमाना
4.	Sedimentry	परतदार, अवसादी, प्रस्तरी धूल
5.	Metamorphic	कायांतरित, रूपांतरित, परिवर्तित, कायांतरी
6.	Paradigm	निदर्शन, शोध अग्रभूमि, चिंतनफलक, प्रतिमान, दृष्टांत, प्रतिरूप
7.	Space	स्थान, क्षेत्र, आकाश, अंतरिक्ष
8.	Spatial	स्थानिक,आकाशीय, क्षेत्रीय, भूवैन्यासिक दिक्स्थान, अंतराल, अवकाश
9.	Model	प्रतिमान, प्रतिरूप, निदर्श
10.	Pattern	प्रतिरूप, प्रतिमान
11.	Chorology	प्रादेशिक समाकलन, क्षेत्र विवरणी विज्ञान, जीव भूविस्तार क्षेत्र-विश्लेषण, जीव वितरण विज्ञान
12.	Earth's surface	भूपृष्ठ, भू सतह, धरातल
13.	Earth's crust	भूपर्पटी, पृथ्वी की ऊपरी परत
14.	Radical Geography	अतिवादी भूगोल, उग्र सुधारवादी भूगोल
15.	Areal differentiation	क्षेत्रीय विभेदीकरण, क्षेत्रीय विषयकभेद, क्षेत्रीय विभेदन
16.	Cross-section-	पार्श्विका, पार्श्वचित्र, परिच्छेदिका, अनुप्रस्थकाट, अनुप्रस्थ परिच्छेद

तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित वृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह (विज्ञान) में प्रकाशित हैं।

तालिका के विवेचन से स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हुए भौगोलिक चिंतन के विकास के क्रम में विश्व स्तर पर हुए परिवर्तनों का सीधा प्रभाव भारत में भूगोल-शिक्षण पर पड़ा है। जर्मन, फ्रेन्च, रूसी, अंग्रेजी आदि शब्दों का हिंदीकरण करते समय अत्यंत सतर्कता-पूर्वक एवं सरकार द्वारा प्रामाणिक शब्दों की अनुपलब्धता के संदर्भ में उपलब्ध अंग्रेजी-हिंदी शब्दकोषों की जांच पड़ताल के आधार पर हिंदी-भाषी विद्वानों लेखकों ने भावमूलक शब्दों का प्रयोग किया। यही कारण है कि एक ही मूल शब्द के एक से अधिक हिंदी शब्द प्रचलन में आ गए। इससे विद्यार्थियों को कक्षाओं में स्पष्ट करते समय शिक्षक को अत्यंत सर्तकता बरतनी पड़ती है।

भूगोल की तकनीकी शब्दावली में यत्र-तत्र असमानता और अमानकता के निवारण के लिए वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग भारत सरकार ने अन्य विषयों की तरह इस विषय की तकनीकी हिंदी शब्दावली के संकलन, परिष्करण और मानकीकरण का कार्य 1955 में आरंभ किया था। सन् 1956 में आयोग ने सर्वप्रथम प्राकृतिक भूगोल (फीजिकल जियोग्राफी) की शब्दावली प्रकाशित की जिसमें 640 शब्दों के हिंदी पर्याय दिए गए थे। सन् 1959 में प्रकाशित प्राकृतिक भूगोल-2 में लगभग 4000 शब्दों के हिंदी पर्याय शामिल किए गए। इन तकनीकी शब्दों के हिंदी पर्यायों का निर्माण उस समय के प्रख्यात भूगोलविदों ने डॉ. राजनाथ की अध्यक्षता में किया था। डॉ. ए.जी. झिंगरन, डॉ. एस.एल. मल्होत्रा, डॉ. डी.एन. वाडिया प्रो. एन.एल शर्मा तथा डॉ. सी.एन. दूबे ने भी इसमें अमूल्य सहयोग दिया। कालांतर में अनेक भूगोलविदों की सहायता से यह काम आगे बढाया गया और सन् 1996 में आयोग के प्रधान वैज्ञानिक अधिकारी (भूगोल) श्री वीर सिंह आर्य के संपादन में भूगोल शब्द-संग्रह (Glossary of Geography) प्रकाशित हुई जिसमे भूगोल की सभी शाखाओं के कुल मिलाकर 24, 500 शब्दों के हिंदी पर्याय दिए गए है। इस तरह भूगोल-विषय पर मानक हिंदी शब्दावली की अब पर्याप्त उपलब्धता सुनिश्चित हो गई है। अब आवश्यकता है भूगोल के अध्यापकों, लेखकों, छात्रों द्वारा केवल आयोग द्वारा प्रकाशित इस शब्दावली के उपयोग की ताकि सर्वत्र शब्दावली की समानता और मानकता बनाए रखी जाए।

संदर्भ :

1. कौशिक, एस. डी., ''भौगोलिक चिंतन'' द्वितीय संस्करण 2004, रस्तोगी पब्लिकेशन मेरठ, पृष्ठ 3.
2. हुसैन माजिद, ''भौगोलिक चिंतन का इतिहास'', द्वितीय संस्करण 2003, रावत पब्लिकेशन ,जयपुर पृ. 133
3. सिंह जगदीश, ''भौगोलिक चिंतन का क्रम विकास'', पंचम संस्करण 2002, ज्ञानोदय प्रकाशन गोरखपुर, पृ. 202
4. कौशिक, एस.डी. ''भौगोलिक चिंतन'' द्वितीय संस्करण 2004, रस्तोगी पब्लिकेशन मेरठ, पृष्ठ. 305-306
5. प्रीरा एवं वुड, ''भूगोल के आधार,'' एस चंद एन्ड क. नई दिल्ली, अनुवादक डॉ. अमर नाथ कपूर, 1955, प्राक्कथन
6. डॉ. मामोरिया चतुर्भुज, ''आर्थिक और वाणिज्य भूगोल'', तृतीय संस्करण 1964, गया प्रसाद एन्ड सन्स, आगरा
7. सिंह लेखराज, ''भूगोल की प्रकृति,'' प्रथम संस्करण 1972, उ.प्र. हिंदी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, प्रस्तावना एवं परिचय

❑

9

पृथ्वी के इतिहास में युग परिवर्तन

*मुकुंद नीलकंठ जोशी**

भूवैज्ञानिकों ने जब पृथ्वी का इतिहास जानने का प्रयत्न प्रारंभ किया तब उनके पास वैज्ञानिक प्रमाणों का नितांत अभाव था। लॉर्ड केल्विन (मूल नाम- विलियम थॉम्सन, 1824-1907) ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक ढंग से सोचा और यह मान कर कि पृथ्वी पहले एक गर्म आग का गोला था, जैसा कि आज सूर्य है, और फिर धीरे धीरे ठंडी होकर आज के सामान्य ताप पर आ गई है, उन्होंने पृथ्वी के ठंडे होने की दर की गणना के आधार पर उसकी आयु निकालने का प्रयास किया। पृथ्वी अंदर से गरम है इसके कितने ही प्रमाण हमें मिलते हैं। खानों में जब हम गहराई में जाते हैं तो ताप बढ़ता जाता है। पृथ्वी से निकलने वाले गर्म जल के सोते गहराई की गरमी को प्रदर्शित करते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण ज्वालामुखी पर्वत हैं जो फटते हैं तो पिघला हुआ शिला-पदार्थ, गैसें आदि वेग से बाहर आते हैं। पृथ्वी के ठंडे होने की दर की गणना करके केल्विन ने पाया कि पृथ्वी की आयु लगभग दो से चार करोड़ वर्ष के बीच होनी चाहिए।

गणना द्वारा प्राप्त आयु का यह आंकड़ा भूवैज्ञानिकों को स्वीकार्य नहीं हुआ क्योंकि हजारों मीटर मोटे अवसादों के संस्तर जमा होने, उनके अपरदन, पुन: जमा होने, शैलीभवन, कायांतरण, पर्वतन, पुन: होने वाले विवर्तन आदि की दृष्टि से यह कालावधि अत्यंत कम थी। वैज्ञानिकों ने अन्य प्रमाणों पर विचार किया। समुद्र में प्रतिवर्ष जितनी मोटी अवसादों की परतें जमा होती है उसकी दर और कुल अवसादी शैलों की मोटाई के आधार पर गणना की गई। समुद्र का जल पहले सादा था जो अब लवणीय हो गया है ऐसा मान कर इतनी मात्रा के लवण घुलने में कितना समय लगा होगा उसका अनुमान लगाया गया। ठंडे प्रदेशों में झीलों में जो मिट्टी जमा होती है वह पतली-पतली स्तरिकाओं के रूप में होती है और प्रत्येक स्तरिका (वार्व) एक वर्ष में बनती है, अत: स्तरिकाओं को गिन कर समय का अनुमान लगाया गया। परंतु इनमें से कोई भी प्रमाण विश्वसनीय नहीं सिद्ध हुआ।

पृथ्वी का इतिहास जानने के लिए वैज्ञानिकों को एक कुंजी मिली जीवाश्मों के रूप में। जीवाश्म शैलों में मिलने वाले शैलरूप हो चुके जीवों के अवशेष हैं। प्रारंभ में जब ये मिले तो मानव इनके बारे में तरह-तरह की कल्पनाएं करने लगा। अब पहाड़ में पत्थर के रूप में कोई मछली का, शंख का, सीपी का या हड्डी का आकार मिले तो क्या सोचा जा सकता है? किसी ने कहा कि ईश्वर जब जीवों का निर्माण कर रहा था तो कुछ रचनाएं उसे पसंद नहीं आई और उसने उन्हें फेंक दिया। वे ही इन पत्थरों में दबी पड़ी हैं। किसी को लगा कि ईश्वर तो सर्वशक्तिमान है। वह कोई सामान्य प्रयोग करने वाला तो है नही कि कोई रचना बनाई और फिर देखा कि ठीक हैं या नहीं। ईश्वर तो जो बनाएगा वह सदैव ठीक ही होगा। पत्थरों में मिलने वाले जीवों के शरीर के ये रूप ईश्वर द्वारा बनाए नहीं हो सकते। ये ईश्वर से प्रतिस्पर्धा करने वाले शैतान के प्रयास हैं। उसने ईश्वर की बराबरी करने के लिए जीवों के शरीर

* 44/3 कनॉल रो, जाखन देहरादून, उत्तराखंड - 248009

तो बनाए पर उनमें प्राण न भर पाया। वे आज पत्थर के रूप में मिल रहे हैं। जीवाश्मों से संबंधित इस प्रकार की अफलातूनी धारणाओं के बीच प्रसिद्ध यूरोपीय तत्ववेत्ता लियोनार्दो द विंशी (1452-1519) ने पहली बार यह प्रतिपादित किया कि जीवाश्म वास्तव में कभी जीवित जीवों के शरीर थे जो पत्थर बनने की प्रक्रिया में मिट्टी में दब कर धीरे-धीरे पत्थर के रूप में परिणत हो गए।

इस वैज्ञानिक विचार के विकास के साथ जीवाश्मों का सुव्यवस्थित अध्ययन प्रारंभ हुआ। एक अंग्रेज इंजीनियर विलियम स्मिथ (1769-1839) ने जीवाश्मों के वैज्ञानिक अध्ययन से दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले। पहला यह कि यदि शैलों के एक के ऊपर एक-अनेक स्तर जमा हो तो एक स्तर में मिलने वाले जीवाश्म दूसरे स्तर में मिलने वाले जीवाश्मों से भिन्न प्रकार के होते हैं। दूसरे उसने यह भी पाया की नीचे के स्तर में पाए जाने वाले जीवाश्मों की तुलना में ऊपर के स्तर पर पाए जाने वाले जीवाश्मों की शरीर-रचनाएं अधिक जटिल, पर अधिक विकसित होती हैं। जीवाश्म विज्ञान के इन दो सिद्धांतों से जीव-विकास की कल्पना को बहुत बल मिला और इस दृष्टि से जीवाश्मों का विस्तृत अध्ययन प्रारंभ हुआ। तब वैज्ञानिकों ने पाया कि जीवाश्मों को हम कालगणना का आधार बना सकते हैं।

कालगणना के दो रूप है। एक तो समय की इकाई को 'वर्ष' मान कर अंकों के रूप में गणना करना, जैसे-हजार वर्ष, लाख वर्ष आदि। परंतु इस प्रकार अंकों में गणना करना जब संभव नहीं होता तब हम घटनाओं को आधार बना कर काल का वर्णन करते हैं, जैसे हमारे पुराणकारों ने सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की कल्पना की। इसके लिए उन्होंने धर्म और अधर्म के अनुपात का आधार बनाया। यह युग-परिवर्तन की धारणा केवल काल्पनिक थी और इसका कोई वैज्ञानिक तर्कसंगत आधार नहीं था। इसके विपरीत इतिहास में किसी वंश के साम्राज्य के समय को आधार मान कर की जाने वाली कालगणना तर्क-आधारित होती है, जैसे मौर्य काल, शुंग काल, कुषाण काल, गुप्त काल, मुगल काल, ब्रिटिश काल आदि। पृथ्वी के इतिहास की काल गणना के लिए इसी प्रकार वैज्ञानिकों ने पृथ्वी पर जीवन के इतिहास को आधार बनाया। इस आधार पर उन्होंने पृथ्वी के आजतक के पूरे समय को अनेक युगों में बांटा जिन्हें उन्होंने आर्कियन (आद्यमहाकल्पी), प्रोटेरोजोइक (प्राक्जीवी), पेलियोजाइक (पुराजीवी), मेसोजोइक (मध्यजीवी) और सीनोजाइक (नूतनजीवी) नाम दिए। फिर इन युगों को अनेक कालों में बांटा। इन सबका आधार जीवाश्म ही थे। जीवों की भिन्न-भिन्न प्रजातियों का पृथ्वी पर उत्पन्न होना, थोड़ी या अधिक कालावधि तक रहना तथा फिर समाप्त हो जाना, इन घटनाओं से पृथ्वी के इतिहास की पूरी समय-सारणी तैयार करने में सहायता मिली।

वर्ष की इकाई के आंकड़ों में भी शैलों के आयु-निर्धारण का एक तरीका वैज्ञानिकों को तब मिला जब यह खोज हुई कि अनेक तत्वों के समस्थानिक (आइसोटोप) दूसरे समस्थानिक में या दूसरे तत्वों में एक निश्चित कालावधि में बदल जाते हैं। इस प्रकार शैलों में बने तत्वों के समस्थानिक की मात्रा रासायनिक विश्लेषण द्वारा निकाल कर उनकी आयु जानी जा सकती है। इन्हें शैलों तथा खनिजों की आयुनिर्धारण की रेडियोमितीय विधि कहते हैं। आज इस प्रकार की बीसों विधियां वैज्ञानिकों को ज्ञात हैं और उनमें सतत नवनवीन परिष्कार और सुधार हो रहे हैं।

एक महत्वपूर्ण और समाधान-कारक बात यह हुई कि रेडियोमितीय विधियों से शैलों की आयु के प्राप्त आंकड़ों और जीवाश्मों के आधार पर निर्धारित आयु में एक समानता मिल गई। अर्थात् जीवाश्मों के द्वारा जो शैल पुराने या नए माने जाते थे रेडियोमितीय विधि से भी वे पुराने या नए ही बने रहे। फलतः जीवाश्म विधि से भूवैज्ञानिकों ने जो समय-सारणी बनाई थी उसकी रेडियोमितीय विधि से भी पुष्टि हो गई और उस सारणी के युग और कालों को वर्ष की इकाई में भी बताना संभव हो गया।

पृथ्वी के इतिहास में युग-परिवर्तन किसे कहा जा सकता है? इस बात के हमारे पास प्रमाण है कि प्रारंभ में पृथ्वी पर जीवन नहीं था। अत्यंत प्राचीन काल के शैलों में जीवाश्म नहीं मिलते। पृथ्वी की आयु गणना द्वारा चार अरब साठ करोड़ वर्ष बताई गई है। विकिरण मितीय (रेडियोमितिक) विधि से अब तक चार स्थानों पर सबसे प्राचीन शैल पाए गए हैं। एक, पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के यील्गार्न क्षेत्र के क्वार्ट्जाइट शैल में पाया गया जिरकॉन खनिज जो चार अरब बीस करोड़ वर्ष पुराना है; दूसरा, दक्षिण अफ्रीका में रॉबर्ट्स विक्टर खान में मिला चार अरब वर्ष पुराना इक्लोगाइट शैल; तीसरा, कनाडा के स्लाव प्रांत का नाइस शैल जो तीन अरब, नब्बे करोड़ साठ लाख वर्ष का तथा चौथा इसुआ, ग्रीनलैंड में पाया गया नाइस शैल जो तीन अरब बयासी करोड़ चालीस लाख वर्ष पुराना है। ये सभी शैल कायांतरित प्रकार के हैं अर्थात् पहले के किन्ही शैलों के ताप तथा दाब के कारण बदले हुए रूप है। उसी प्रकार ऑस्ट्रेलिया के क्वार्ट्जाइट में मिलने वाला जिरकॉन भी पहले अन्य किसी शैल में था जो पानी के द्वारा बह कर इस शैल में आ गया है। इस प्रकार भूवैज्ञानिक मानते हैं कि चार अरब बीस करोड़ वर्ष से पूर्व भी शैल पृथ्वी पर विद्यमान थे, परंतु उनमें से आज कोई उपलब्ध नहीं है।

चार अरब वर्ष से पूर्व का भी वह काल कैसा रहा होगा? वैज्ञानिक उस काल को 'हेडियन' कहते हैं जिसका अर्थ है अज्ञात। फिर भी इतना तो जाना ही गया है कि उस समय पृथ्वी जीवन के अस्तित्व के लिए उपयुक्त नहीं थी। ज्वालामुखी उद्गार लगतार हो रहे थे, जलवाष्प की मात्रा तेजी से बाहर आ रही थी, गैसें निकल रही थी, वायुमंडल का निर्माण होने लगा था, परंतु उसमें ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन डाइऑक्साइड का स्थिर अनुपात नहीं था। जलवाष्प पानी बनकर बरसने लगा और छोटे छिछले समुद्र बनने लगे। इन समुद्रों में पानी द्वारा बहाकर लाए जाने वाले अवसाद जमा होने लगे। धीरे-धीरे पृथ्वी की बाह्य आवरण-पर्पटी ठोस तथा मोटी होने लगी।

चार अरब वर्ष से दो अरब पचास करोड़ वर्ष का काल आर्कियन युग (आद्यमहाकल्पी) कहलाता है। इसी युग में पृथ्वी पर किसी समय जीव आया। इस काल में यद्यपि बड़े जीवाश्म नहीं पाए जाते पर जैविक कार्बन की उपस्थिति, शैवाल तथा जीवाणुओं द्वारा निर्मित स्ट्रोमेटोलाइट जैसी रचनाएँ और कुछ सूक्ष्म जीवाश्म पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व के प्रमाण हैं। पृथ्वी पर जीवन का प्रादुर्भाव एक युग परिवर्तनकारी घटना है। आज हम जीवन को जिस रूप में जानते हैं वह मूलतः कार्बन-आधारित है। कुछ अत्यंत छोटे सिलिका-निर्मित शैवाल जैसे जीवों को छोड दें तो सभी जीवों का शरीर कार्बन के यौगिकों का बना है। इस शरीर-रचना में प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया का महत्वपूर्ण योगदान है। श्वसन तथा प्रकाश संश्लेषण के चक्र से वायुमंडल में गैसों का एक स्थिर अनुपात बना।

धीरे-धीरे हम आर्कियन युग से प्रोटेरोजोइक या प्राग्जीव महाकल्प में पहुंचे। कार्बन युक्त शरीर बनने के कारण जीवों की मृत्यु होने पर वह कार्बन जल में घुलने लगा और कैल्सियम कार्बोनेट के स्तर जल में जमा होने लगे। आद्यमहाकल्प के शैलों में चूनाश्म का लगभग अभाव है, पर प्रोटोजोइक में चूनाश्म, डोलोमाइट तथा इनका कायांतरित रूप संगमरमर काफी मिलते हैं। आर्कियन के अंतिम समय से प्रोटेरोजाइक के प्रारंभिक समय (लगभग 2 अरब 60 करोड़ वर्ष से 2 अरब वर्ष के बीच का काल) में सारे विश्व में लोहे तथा मैगनीज के ऑक्साइड की हजारों टन मात्रा तत्कालीन समुद्रों में जमा हुई। ऐसा पृथ्वी के इतिहास में न पहले कभी हुआ न बाद में। अपने में यह इस युग की एक विशिष्ट घटना है।

प्राग्जीव (प्रोटेरोजोइक काल) का अंत तथा पुराजीवी (पैलियोजोइक) का प्रारंभ जीवन के महान प्रस्फुटन से होता है। जीवों के शरीरों का ऐसा विकास हुआ कि बड़े आकार के, बाह्य कवच युक्त तथा बाद में हड्डी वाले भी सैकड़ों विभिन्न प्रकारों के जीव समुद्रों में उत्पन्न हो गए। यह विकास अचानक नहीं हुआ।

अंतिम प्रोटेरोजोइक से प्रारंभिक पैलियोजाइक (जिसे भू वैज्ञानिक कैब्रियन काल कहते हैं) में यह क्रमश: किंतु बहुत बड़ा परिवर्तन नए युग की उद्घोषणा सिद्ध हुआ। समुद्र में अनेक जातियों के ट्राइलोबाइट नामक कीट पैदा हो गये जिनके शरीर में सिर, धड़ तथा पूंछ जैसे अंग, पैर, आंखें इत्यादि विकसित थे। इसी प्रकार ब्रैकियोपोडा जाति के ऐसे प्राणी भी सागर में भर गये जो बाह्य कवचों का निर्माण कर सकते थे। इनमें दो कठोर कवचों के आवरण के बीच मुलायम जीव रहता था। इस प्रकार केंब्रियन का यह काल जीवों से भरापूरा बन गया।

तब से आजतक पृथ्वी पर जीवन फलता-फूलता रहा है। परंतु संभवत: जीवन की उत्पत्ति दुबारा नहीं हुई। जीव जातियाँ विकसित होती रही। भिन्न-भिन्न जातियाँ नई-नई जातियों में परिणत होती रहीं। किंतु इस पूरी प्रक्रिया में कुछ ऐसे काल भी आए जब जीवों का विनाश अत्यंत बड़े पैमाने पर हुआ। वैज्ञानिकों ने ऐसे माहविनाश के अब तक पाँच काल पहचाने हैं। पहला महाविनाश ऑर्डोविशन काल के अंत में 43 करोड़ 80 लाख वर्ष पूर्व हुआ जब पृथ्वी का ताप अत्यंत कम हो गया था और तत्कालीन जीव जातियों का सत्तर प्रतिशत संपूर्ण रूप से विलुप्त हो गया। दूसरा महाविनाश का काल डिवोनीकल्प के अंत में अर्थात् लगभग 36 करोड़ 50 लाख वर्ष पूर्व हुआ। इस समय समुद्र तल काफी नीचा हो गया। इसलिए बिना हड्डी वाले अनेक समुद्री जीव तथा अधिकांश मछलियां विलुप्त हो गईं। पर इन दो महाविनाश कालों से भी बड़ा महाविनाश पर्मियन के अंत में अर्थात् 24 करोड़ 50 लाख वर्ष पूर्व हुआ। इस समय पृथ्वी की बहुत बड़ी आंतरिक हलचलों के कारण तत्कालीन महाद्वीप एक दूसरे से जुड़े और एक विशाल महाद्वीप पैंगिया का निर्माण हुआ पर इसी के साथ समुद्र तल काफी नीचा हो गया और तत्कालीन जीवजगत् का 96 प्रतिशत विनष्ट हो गया। इसीलिये पर्मियन काल के अंत को भूवैज्ञानिक युगपरिवर्तन का काल मानते हैं जो पैलियोजाइक युग का अंत और मध्यजीवी (मीसोजोइक) युग का प्रारंभ माना जाता है।

चौथा महाविनाश का काल ट्राइएसिक के अंत में अर्थात् 20 करोड़ 80 लाख वर्ष पूर्व हुआ। पृथ्वी पर बहुत सूखा पड़ा और समुद्रतल काफी नीचा हो गया। लगभग 40 प्रतिशत जीव-जातियाँ नष्ट हो गईं। उसके बाद लगभग 6 करोड़ 50 लाख वर्ष पूर्व एक बार और भयानक महाविनाश का काल आया। यह क्रिटेशस तथा तृतीयक (टर्शियरी) काल का संधिकाल कहा जाता है। इस समय पृथ्वी पर भयानक उल्कापात हुआ। बहुत बडी मात्रा में ज्वालामुखी उद्गार हुए। सारा वातावरण ही बदल गया। 70 प्रतिशत जीव-जातियां नष्ट हो गईं। डाइयनोसॉर जैसे करोड़ों वर्षों तक पृथ्वी पर राज करने वाले विशाल सरीसृप संपूर्ण रूप से नष्ट हो गए। अमोनाइट नामक बाह्य कवच वाली जीव-जाति नष्ट हो गई। इस काल को भूवैज्ञानिक मध्यजीवी (मीसोजोइक) युग का अंत और नूतनजीव (सीनोजाइक) का प्रारंभ मानते हैं।

तब से आजतक जीवों का विकास हो रहा है। जीवन फल-फूल रहा है। अब तो पिछले लगभग एक दो लाख साल से पृथ्वी पर हम मानव आ गए हैं। सारी पृथ्वी पर फैल गए हैं। पृथ्वी की प्रकृति को बदल डालने की शक्ति जो पिछले साढ़े चार अरब वर्ष में किसी को नहीं मिली थी, वह हमें मिली है। पृथ्वी पर अब हमारा युग है। पर यदि हमारे कारण या प्राकृतिक कारण से हमारा विनाश हो जाए तो वह पृथ्वी पर का भावी युग-परिवर्तन होगा। प्रकृति को जो करना है वह करे, पर ऐसे महाविनाश और उसके परिणाम युग-परिवर्तन का कारण कम से कम हम न बनें, यही कामना की जानी चाहिए।

❑

10

प्रवाल-भित्ति की अद्भूत दुनिया

*नवनीत कुमार गुप्ता**

समुद्रों में स्थित कोरल रीफ यानी प्रवाल भित्ति क्षेत्र एक ऐसा विशिष्ट पारितंत्र है जो जीवन के रंग-बिरंगे रूपों से सजा है। प्रवाल भित्ति चट्टानी समुद्र तटों पर पाई जाने वाली सूक्ष्म जीवों की ऐसी बस्तियां हैं जहां पॉलिप नाम के सूक्ष्मजीव, समूहों में निवास करते हैं। यह पॉलिप नामक समुद्री जीव चट्टानी तटों पर पाए जाते हैं जो अपने शरीर की सुरक्षा के लिए अपने चारों तरफ हड्डियों के ढांचे के समान कठोर आवरण बनाते है। यह आवरण चूने का बना होता है। इन पॉलिपों के अनेक ढांचे एक दूसरे से मिलकर जिस ढांचे का निर्माण करते हैं उसे ही प्रवाल भित्ति कहते हैं।

प्रकृति ने प्रवाल को विकास के लिए सहजीविता के गुण से संपन्न किया है। प्रवाल भित्ति का रंग-बिरंगा होना इनके अंदर उपस्थित शैवालों के कारण होता है। शैवालों में विशिष्ट रंजकों की उपस्थिति ही उस के रंगी-बिरंगेपन के लिए उत्तरदायी होती है। प्रवाल अन्य जीवों के समान नाइट्रोजन व फॉस्फोरस लवण और कार्बन डाइऑक्साइड गैस मुक्त करते हैं। शैवाल यानी एल्गी इन तत्वों का उपयोग प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया में करते हैं, जिसके द्वारा वह अपना भोजन बनाते हैं। शैवाल द्वारा इस प्रक्रिया में कार्बनिक पदार्थ भी बनाए जाते हैं जिनका कुछ हिस्सा प्रवाल को पोषित करने में होता है। प्रवाल भित्ति के निर्माण में कैल्सियम, कार्बन, ऑक्सीजन और ह्यूमिक अम्ल महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रवल-भित्ति की वृद्धि को प्रभावित करने वाले तीन मुख्य कारक जल की लवणता, शुद्धता और स्थायित्व हैं।

प्रवाल भित्ति पर सबसे बड़ी जीवित संरचना है। अधिकतर प्रवाल भित्ति क्षेत्र 30^0 उत्तरी और 30^0 दक्षिणी अक्षांशों के मध्य स्थित हैं। प्रवाल भित्ति उथले जल में अधिक वृद्धि करती है। प्रवाल भित्ति का वितरण मुख्यत: अटलांटिक महासागर के कैरेबियन क्षेत्र और इंडो-पैसिफिक क्षेत्रों में अधिक है। इंडो-पैसिफिक क्षेत्र विशेषकर पापुआ, न्यू गिनी व फिलीपींस में प्रवाल भित्ति की जैवविविधता अद्भुत है। दक्षिण हिंद महासागर और भारतीय समुद्री सीमा में प्रवाल द्वीपवलय अधिक है। विश्व भर में प्रवाल भित्ति की लगभग 800 से 1000 जातियों का अनुमान लगाया गया है। भारत के आसपास मन्नार की खाड़ी, पाक खाड़ी तथा अंडमान निकोबार द्वीप-समूह में प्रवाल भित्ति पाई जाती हैं। भारत का प्रवाल-भित्ति क्षेत्र करीब 2,375 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला है जो अंडमान निकोबार, लक्ष्यद्वीप समूह, मन्नार की खाड़ी और कच्छ की खाड़ी आदि क्षेत्रों में स्थित है। यहां के द्वीप मुख, समुद्री झील, समुद्र तट, बालू के टीले, कच्छ वनस्पतियां और प्रवाल भित्ति जैविक विविधता के भंडार हैं। भारत में अभी तक कोरलों की 206 जातियां पाई गई हैं जिनमें से अधिकतर अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह

*विज्ञान प्रसार, सी-24, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली- 110016
स्थायी पता - पुराना बस स्टैंड, पचोर - 465683, जिला राजगढ़ (म.प्र.)

में स्थित हैं। देश में कठोर व कोमल कोरलों – दोनों पर लक्षित अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के लिए मंत्रालय ने पोर्टब्लेयर में राष्ट्रीय प्रवाल भित्ति शोध केंद्र की स्थापना की है।

जैवविविधता की दृष्टि से महासागरों में स्थित प्रवाल भित्ति क्षेत्र धरती के वर्षावनों के समान महत्वपूर्ण है। यह क्षेत्र अतुल्य जैव विविधता रखता है। हालांकि संपूर्ण पृथ्वी के लगभग एक प्रतिशत हिस्से पर ही इनका अधिकार है, परंतु ये समुद्री जीवों, विशेषकर मछलियों की 25 प्रतिशत जातियों का आश्रय स्थल है। प्रवाल भित्ति जीवित हों या न हों वे हमेशा समुद्री जीवों का आवास स्थल रहती हैं। इसलिए समुद्र में स्थित प्रवाल क्षेत्र की तुलना धरती के वर्षावन क्षेत्र से की जा सकती है। प्रवाल भित्ति क्षेत्र में केकड़े, स्टारफिश, झींगे, डॉल्फिन, शार्क व अनेक किस्म की मछलियां और विभिन्न वनस्पतियां, जैसे-लाल शैवाल, हरा शैवाल, भूरा शैवाल एवं मोलस्क मिलते हैं।

प्रवाल भित्ति की अधिकांश जातियां स्थिर अवस्था में ही रहती है अर्थात् वे स्थान परिवर्तन नहीं कर सकतीं। लेकिन मशरूम प्रवाल ऐसी जाति है जो लगभग 30 से 40 मिमी. तक गति कर सकती है। हालांकि अधिकतर प्रवाल, प्रकाश की आवश्यकता के मद्दे नजर उथले स्थान पर ही स्थिर रहते हैं, लेकिन प्रकाश की बहुत ही कम जरूरत के कारण '*पुंजकोरल*' समुद्र में 1000 से 2000 मीटर तक की गहराई में भी जीवित रह सकते हैं। अलग-अलग प्रवाल प्रजातियों की वृद्धि दर में भी अंतर होता है। मस्तिष्क के आकार की कटक प्रवाल (ब्रेन कोरल) में एक साल के अंदर अधिकतम एक सेमी की वृद्धि होती है जबकि शाखित कोरल में एक वर्ष में 18 से 20 सेमी तक ही वृद्धि देखी गई है।

एक अजूबा-ग्रेट बैरियर रीफ

विश्व का सबसे बड़ा कोरल-तंत्र के रूप में चिह्नित किया गया ग्रेट बेरियर रीफ क्षेत्र करीब 344,400 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला है। यह समुद्र में निर्मित सबसे बड़ी प्राकृतिक संरचना है जिसका निर्माण किसी एक प्रकार के जीवों यानी प्रवालों से हुआ है। इस क्षेत्र में 400 जातियों के प्रवाल मिलते हैं। इस अद्भूत प्राकृतिक निर्माण को सन् 1981 में यूनेस्को द्वारा विश्व धरोहर का दर्जा दिया गया है। आस्ट्रेलिया में स्थित प्रकृति की यह विलक्षण रचना '*ग्रेट बेरियर रीफ*' जैवविविधता से समृद्ध है। यहां मछलियों की 1500 से अधिक जातियां पाई जाती हैं।

प्रबाल भित्ति

पृथ्वी के विभिन्न पारितंत्रों में आपसी समन्वय ही जीवन की विविधता को बनाए हुए हैं। प्रवाल भित्ति भी अन्य पारितंत्रों के साथ जीवन के विकास में सहायक है। उदाहरण के लिए प्रवाल भित्ति द्वारा निर्मित चट्टानें तट पर पहुंचने वाली समुद्री लहरों की गति कम कर देती हैं जिससे वहां मैंग्रोव आदि वनस्पतियां पनप सकती हैं। यदि प्रवाल भित्ति द्वारा निर्मित चट्टान-नुमा संरचना न हो तो लहरों का तेज बहाव मैंग्रोव के विकास को बाधित कर सकता है। यह तो हम जानते ही हैं कि मैंग्रोव वनस्पति की अच्छी संख्या न केवल समृद्ध जैवविविधता को आश्रय प्रदान करती है अपितु विध्वंसकारी सुनामी लहरों से भी तटीय क्षेत्र की रक्षा करने में समर्थ हो सकती है। समुद्री लहरों के प्रकोप से तट पर बसे लोगों को बचाने में प्रवाल भित्ति की भूमिका अहम है। इसका एक उदाहरण फ्लोरिडा शहर है। अगर वहां प्रवाल भित्ति न होती तो यह शहर समुद्र में डूब चुका होता।

खतरे में है प्रवाल भित्ति

तटीय क्षेत्रों में बढ़ती गतिविधियों, जैसे-निर्माण कार्यों, औद्योगिक और बहि:स्राव से होने वाले पोषक तत्वों की कमी और मत्स्य एवं पर्यटन उद्योगों में विकास से प्रवाल भित्ति की विविधता प्रभावित होने के साथ उनमें कमी भी आ रही है। इन कारणों के अलावा तटीय खनन-कार्यों से प्रवाल भित्ति पर सर्वाधिक नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। विश्व का औसतन दस प्रतिशत प्रवाल भित्ति क्षेत्र नष्ट हो चुका है। विश्व के 93 देशों में उपस्थित प्रवाल भित्ति क्षेत्र क्षतिग्रस्त स्थिति में हैं। कृषि कार्यों और खनिज दोहन में अंधाधुंध वृद्धि के कारण समुद्री तटों के समीप बढ़ते अवसाद से प्रवाल भित्ति का प्राकृतिक सौंदर्य गड़बड़ा गया है। समुद्र में आने वाले तूफानों और उच्च ज्वार भाटा के कारण प्रवाल बड़ी संख्या में मृत होते हैं। प्रशांत महासागर में आने वाले हरीकेन तूफान, प्रवाल भित्ति को काफी क्षति पहुंचाते हैं। कई बार ज्वार भाटे के दौरान तटीय प्रवाल भित्ति क्षेत्र कई घंटों तक खुले वातावरण में रहने से मृत प्राय हो जाते हैं। अल निन्यो से प्रवाल भित्ति में ब्लैक बैंड नामक बीमारी होती है। प्रवाल भित्ति समुद्री जल में उथल-पुथल से भी प्रभावित होती है।

गर्मियों में ताप अधिक हो जाने पर अधिकांश कोरलों का रंग परिवर्तित हो जाता है। प्रवाल भित्ति में रंग-परिवर्तन की यह घटना विरंजन (रंग उड़ना) कहलाती है जिसके प्रभाव से कई प्रवाल भित्तियों का रंग सफेद हो जाता है। वर्ष 1998 में समुद्री जल के तापम में 2 डिग्री सेल्यिस बढोतरी होने से कटिबंधी क्षेत्रों में स्थित प्रवाल में से कई प्रवाल नष्ट हो गए थे। हाल के दशकों में प्रवालों का रंग फीका पड़ने की समस्या अधिक गंभीर हुई है। प्रवालों का रंग तब फीका पड़ने लगता है जब इनके भीतर सहजीवी की हैसियत से रहने वाले शैवाल मर जाते हैं और मूंगों का ढांचा 'नंगा' हो जाता है। ऐसे में खुले प्रवाल अत्यधिक गर्मी, विभिन्न रसायनों और पराबैंगनी विकिरणों के सीधे संपर्क में आ जाते हैं और अपनी रंगत खोने लगते हैं। इटली के वैज्ञानिक एंटोनिया पसेडू ने अपने अध्ययन में यह पाया कि समुद्र-स्नान के वक्त धूप से बचने के लिए उपयोग की जाने वाली सन-स्क्रीन क्रीम में मौजूद पैराबेन, सिनामेट, बेन्जोफिनॉन एवं कैम्फर जैसे रसायन प्रवाल भित्ति के लिए खतरा उत्पन्न करते हैं। ये रसायन शैवाल के भीतर सुप्तावस्था में पड़े विषाणु को सक्रिय कर देते हैं और यह विषाणु शैवाल को नष्ट कर देता है। एक अनुमान के अनुसार अगर विभिन्न कारणों से प्रवाल भित्ति का खात्मा इसी प्रकार होता रहा तो 2050 तक 70 प्रतिशत प्रवाल भित्ति समाप्त हो जाएगी और तब इसके परिणामस्वरूप जैवविविधता में काफी कमी आएगी।

सलामत रहे अनोखी दुनिया

बढ़ती मानवीय गतिविधियों से जैव विविधता से समृद्ध प्रवाल क्षेत्रों को प्रदूषण, अवसाद और जलवायु परिवर्तन से खतरा बढ़ता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप इस अनोखी प्राकृतिक धरोहर को सुरक्षित रखने के लिए तटीय पर्यावरण से जुड़ी समस्याओं के समाधान के साथ प्रवाल-क्षेत्रों के प्रबंधन पर ध्यान देना आवश्यक हो गया है। प्रवाल भित्ति जैसे समृद्ध पारितंत्र को इस ग्रह पर बनाए रखने के लिए मानव को प्रकृति के साथ कदम से कदम मिलाकर चलते रहना होगा। तभी धरती पर प्रवाल भित्ति जैसे पारितंत्रों की सुंदरता बनी रहेगी।

❑

11

उत्तराखंड में औषधीय एवं सगंधीय पौधों की कृषि

*डॉ. नवीन कुमार बोहरा**

आधुनिक युग में औषधीय एवं सगंधीय पौधों का महत्व बहुत अधिक बढ़ रहा है। संपूर्ण विश्व में ऐलोपेथिक दवाओं के सेवन से होने वाले दुष्प्रभावों एवं इतर प्रभावों के मद्दे नजर औषधीय पादपों का प्रयोग कर जड़ी-बूटी (हर्बल) दवाइयों के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ा है। भारत में औषधीय एवं सगंधीय पौधों की असीम संपदा है तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों में भौगोलिक एवं जलवायु की भिन्नता के अनुसार विविध प्रकार की औषधीय पौधे पाए जाते हैं।

प्राकृतिक रूप से भारत के उत्तरी भाग में स्थित पर्वतीय राज्य उत्तराखंड आदिकाल से ही औषधीय एवं संगधीय पौधों की दृष्टि से समृद्ध रहा है। इस राज्य के आर्थिक विकास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। जड़ी-बूटियों के व्यावसायिक कृषीकरण की अपार संभावनाओं को देखते हुए राज्य सरकार ने इसे जड़ी-बूटी राज्य (हर्बल स्टेट) घोषित किया है। उत्तराखंड अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण जैव विविधता के साथ-साथ औषधीय एव सगंधीय पौधों से परिपूर्ण है। औषधीय एवं सुगंधीय पौधों की कृषि का पारंपारिक ज्ञान कृषकों को आधुनिक युग के सापेक्ष बहुत कम है, जबकि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इन प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक विदोहन के कारण इनको व्यापक रूप से कृषीकरण द्वारा संरक्षण दिया जाना अत्यंत आवश्यक है। राज्य सरकार ने यहां बड़े स्तर पर कृषीकरण हेतु 26 महत्वपूर्ण जातियों का चयन किया है तथा इनके कृषीकरण पर कुछ अनुदान भी देने का निर्णय किया है। वर्तमान में अर्थिक संपन्नता, रोजगार आधार, मूल्यवर्धी प्रक्रिया एवं अलाभकारी परंपरागत कृषि के स्थान पर सगंधीय पौधों पर आधारित नई तकनीकों की उपलब्धता हेतु जन-जागरूकता की आवश्यकता है।

अतीस: इसे वानस्पतिक भाषा में *एकोनिटम हिटरोफाइलम (Aconitum heterophyllum)* कहते हैं। यह ठंडे शीतोष्ण से अल्पाइन क्षेत्रों में पाया जाता है। यह बलुई दोमट मिट्टी में विशेषकर हल्की ढाल वाले क्षेत्रों में 2200-3500 मीटर की ऊंचाई पर पाया जाता है। इसे बीजों, कंद तथा तने की कलम द्वारा लगाया जा सकता है। इसके बीजों की अंकुरण अवधि 25 से 40 दिन तक होती है। बीजों से कृषीकरण हेतु 15 ग्राम बीज/नली की आवश्यकता होती है। इसकी बोआई मार्च-अप्रेल में (लाइन में) की जाती है। इसे पॉली हाउस में लगाना उचित रहता है। रोपण हेतु अगले वर्ष जुलाई में 30 सेमी. 20 सेमी. की दूरी पर रोपण करना उचित रहता है। इस प्रकार 3500 पौधे प्रति नाली लगाए जा सकते हैं। प्रति हेक्टेयर (250 नाली) हेतु 20 किग्रा बीजों की जरूरत होती है। रोपण के लगभग दो वर्ष तीन माह बाद अक्टूबर-नवंबर में फसल की कटाई की जाती है। कटाई के पश्चात नए एवं पुराने कंदों को अलग करके आंशिक धूप में सुखाया जाता है तथा धूल मिट्टी साफ करके बोरों में भंडारित करते हैं। इस प्रकार 3.5 किलोग्राम सूखे कंद (लगभग 1 ग्राम/पौधा) का उत्पादन/नाली प्राप्त किया जा सकता है। इसका बाजार भाव 1500-1800/किलोग्राम (सूखे कंद) है।

*अनुसंधान अधिकारी, काष्ठेतर वनोत्पाद प्रभाग, वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून (उत्तराखंड)

इसके कृषीकरण पर लगभग 200 रुपये/नाली की लागत आती है जबकि आय लगभग 5250/नाली तक प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 3250/नाली तथा औसत लाभ 1083 रुपये प्रति नाली/वर्ष तक प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त मातृ कंदों द्वारा कृषीकरण कर पौधों का अच्छा विकास एवं उत्पादन भी प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार मातृ कंदों को तैयार करने की अवधि एक वर्ष कम भी हो जाती है। इसकी फसल पर रोग एवं कीटों का कुप्रभाव नहीं पड़ता है।

उपयोग

अतीस की कंदिक जड़ें दीपन-पाचन, उदरकृमि, मलरोधक, दस्तरोधक, पित-श्वास विनाशक, अतिसार, वमन, संग्रहणी, कास, विष शामक एवं बलदायक होती हैं। अतीस की कंदिल जड़ों में अस्फटिकीय निराविष ऐटिसिन (0.4%), हेटेरोऐटिसिन (0.03 प्रतिशत) ऐकोनिटिक अम्ल, टैनिक अम्ल, पेस्टिन के श्वेतसार (स्टार्च), वसा, शर्करा, ओलीइक अम्ल आदि पाए जाते हैं। यह पौधा जम्मू-कश्मीर से उत्तराखंड तक 2200-4000 मीटर ऊंचाई वाले हिमाद्रि तथा उपहिमाद्रि क्षेत्रों में मिलता है तथा इसे अन्य पादपों के साथ मिलाकर भी उपयोग में लाया जाता है। जीर्णज्वर के कारण हुई निर्बलता, क्षुधानाश, रक्तन्यूनता, पांडु रोग आदि में पुनर्नवा (*Boerrhavia diffusa*) के साथ इसका उपयोग होता है। बच्चों में अर्जीण-जन्य अतिसार में बच (*Acorus calamus*) के साथ, यकृत विकृति में रसौत (*Barberis asitatica*) के साथ अतिसार में अदरक (*Zingiber officinale*) के रस में, श्वास में पुष्कर मूल (*Costus speciosus*) तथा वमन में नाग केसर (*Mesua ferra*) के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

यह औषधीय पौधा "*रैननकुलेसी*" कुल का सदस्य है। संस्कृत में इसे अतिविष्ठा, अतिविषा, हिंदी में अतीस, मराठी में अतिविष, बंगाली में "अताइचू" गुजराती में अतबखनी कली, अतिविषा, तेलुगु में अतिविषा, पंजाबी में चितीजड़ी, बौंगा, हिमाचल प्रदेश में मीठी पतीश तथा गढ़वाली में अतीस, घुणबल्लभा व शृंगी आदि नामों से जाना जाता है। औषधीय गुणों, बाजार में बढ़ती मांग, मानव हस्तक्षेप, प्राकृतिक स्थलों के विघटन में तेजी एवं अनैतिक विदोहन के कारण यह पौधा दुर्लभ जाति की श्रेणी में सबसे ऊपर है। जम्मू-कश्मीर एवं हिमाचल प्रदेश में संगृहीत अतीस में *चिरोफिलमविलोसम"* (*Chaerophyllum acuminatum*) *चिरोफिलम विलोसम"* (*Chaerophyllum villosium*) के मूलकंदों का मिश्रण होता है जबकि दक्षिण भारत में *क्रिप्टोकोरीने स्पिरेटि* (*Crytocoryne spiralis*) के कंदाकार भौमिक कांडों का मिश्रण किया जाता है। तेलुगु भाषा में "नती अतिविष" तथा तमिल में "नतविदियम" कहे जाने वाले इस पादप में कभी कभी ऐसपेरेगास जाति (*Asparagus spp.*) की जातियों के कंदों की मिलावट भी की जाती है।

कुटकी: इसका वानस्पतिक नाम *पिक्रोराइजा कुरोआ* (*Picrorhiza kurroa*) हैं। संस्कृत में कुटका, हिंदी में कुरू, कुटकी, मराठी में कुटकी, पंजाबी में कररू, बंगाला में कुटकी, तमिल में कटुकरोगानी, कश्मीरी में कौर, गुजराती में कडु तथा गढ़वाली में केदार, कड़वी आदि नामों से जाना जाता है। यह पौधा *स्क्रोफुलेरियेसी* कुल का सदस्य है। कुटकी पादप बलुई दोमट मिट्टी में हो सकता है तथा जम्मू कश्मीर से नेपाल तक हिमालय के हिमाद्रि वन-क्षेत्रों में 2200-4500 मीटर तक की ऊंचाई के क्षेत्रों में पाया जाता है तथा आंशिक छाया वाले क्षेत्रों में अच्छी वृद्धि करता है। इसका प्रवर्धन बीजों तथा स्टोलॉन कटिंग (कंदो) द्वारा किया जाता है। इसके लिए 5 ग्राम बीज/नाली की आवश्यकता होती है तथा बीज बहुत बारीक होने के कारण बोआई से पहले मिट्टी में मिलाकर 10×10 फुट की क्यारियों में बोआई करते हैं। प्रति हेक्टेयर (लगभग 50 नाली) हेतु 250 ग्राम बीजों की आवश्यकता होती है। बीजों की बोआई मार्च-अप्रैल में कतारों में की जाती है और इनके अंकुरण की अवधि 25 से 30 दिन होती है। पौध से पौध की दूरी 2 फुट

तथा कतार से कतार के बीच की दूरी 3-5 फुट होनी उचित रहती है। पॉली हाउस में बोआई करना उपयुक्त पाया जाता है। ''स्टोलान कटिंग'' हेतु अप्रैल-मई में नर्सरी में रोपण करते है जो जुलाई में खेत में प्रत्यारोपण हेतु तैयार हो जाते है। यह विधि उत्तम तथा अधिक उत्पादन देती है। कायिक विधि से तैयार पौधों का रोपण अगले वर्ष जुलाई में किया जाता है। रोपण हेतु 30 सेमी×30 सेमी. की दूरी पर 2200 पौधे/नाली लगाए जा सकते हैं। वर्ष में 1-2 बार सिंचाई एवं 2-3 निराई-गुड़ाई करने पश्चात रोपण के 2 वर्ष 3 माह पश्चात् अक्टूबर माह में फसल की कटाई की जाती है।

कुटकी की फसल चौथे वर्ष में तैयार होती है तथा इसकी कंदिल जड़ों को खोदकर निकालने के बाद कंदों को धूप में सुखाकर बोरों में भर लेते हैं। इसकी फसल से 20 किग्रा सूखी जड़ें/स्टोलॉन (9 ग्राम/पौध) प्रतिनाली अर्थात् 30-35 क्विंटल सूखी कंदिल जड़ें/हेक्टेयर तक प्राप्त हो सकती है तथा 5 किलोग्राम बीज/हेक्टेयर भी प्राप्त होते हैं। इसका बाजार भाव 150-200 रु किलोग्राम (सूखी जड़/स्टोलॉन) है। इसके कृषीकरण पर लागत रुपए 1000/ नाली आती है तथा कुल आय रुपए 3000/ नाली प्राप्त होती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ रुपए 2000/ नाली तथा औसत लाभ रुपए 666 नाली/प्रतिवर्ष तक प्राप्त हो सकता है। पहाड़ी क्षेत्रों में होने के कारण पौधों की उत्तम वृद्धि एवं अधिक उत्पादन के लिए फसल को बर्फ गिरने से पूर्व जंगली घास की पत्तियों से ढक देना उचित रहता है। कुटकी की फसल पर किसी भी प्रकार का रोग नहीं लगता है। कुटकी की जड़ों में 27 प्रतिशत पिक्रोराइजिन (Picrorohizin) नामक सत्व पाया जाता हैं। कुटकी की जड़ें यकृतशोथशामक, पित्तरेचक, क्षुधावर्धक, कफ-पित्त तथा ज्वर, प्रमेह, श्वास-कास, कुष्ठ रोग शामक व वातशामक होती हैं। इसके अतिरिक्त यह गठिया वात को दूर करता है, मलेरिया बुखार में लाभदायक होता है और मूत्र एवं मासिक धर्म के विकारों को दूर करता है। अविवेकपूर्ण दोहन, बाजार में बढी मांग, मानव हस्तक्षेप, प्राकृतिक आवास स्थलों की कमी आदि कारणों से यह पौधा दुर्लभ जातियों की श्रेणी में सम्मिलित हो चुका है।

कुठः इसे वानस्पतिक भाषा में *सॉसूरिया कॉस्टस* (*Saussurea costus*) कहते हैं तथा यह एस्टरेसी (Asteraceae) कुल का पौधा है। अंतरराष्ट्रीय बाजार में यह कूथ (Kuth) के नाम से जाना जाता है। इसे संस्कृत में कुष्ठ, कूट, हिंदी में कूथ, गुजराती में उपालता, मराठी में कुष्ठ, तेलुगू में चंगुला, तमिल में कोस्टुन, पुटचुक, मलयालम में सेपुंकी, कन्नड में कोष्ठ कश्मीरी में कूथ, बंगाला में कुट, कुरू, हिमाचल प्रदेश में कूठ, अंग्रेजी में ''कॉस्टस'' तथा गढ़वाली में कूट कहते हैं। यह पादप बलुई दोमट मिट्टी, जिसमें कार्बनिक तत्वों की अधिकता हो, आसानी से उगता है। यह पादप जम्मू कश्मीर से लेकर नेपाल तक हिमालय की 2000 से 5000 मीटर तक की ऊंचाई वाले हिमाद्रि (बर्फानी) क्षेत्रों की जलधाराओं के किनारे नम स्थानों पर प्राकृतिक रूप में पाया जाता है। इसके बैंगनी फूल जून से सितंबर माह तक खिलते हैं।

इसका प्रवर्धन बीजों एवं कंदों की जड़ों द्वारा किया जाता है। बीजों से बोआई हेतु 75 ग्राम बीज प्रति नाली की आवश्यकता (8-9 किग्रा/हेक्टेयर) होती है। बीजों की अंकुरण अवधि 10 से 15 दिन होती है तथा इसकी बोआई अप्रेल-मई में 10×10 फुट की क्यारियां बनाकर की जाती है। नर्सरी में तैयार पौधों को जुलाई-अगस्त में पौध से पौध के बीच की दूरी 3 फुट एवं कतार से कतार के बीच की दूरी (लगभग) 4 फुट रखते हुए रोपित किया जाता है। कुछ स्थानों पर 60 सेमी×60 सेमी दूरी रखते हुए 550 पौध/नाली का रोपण किया जाता है। सिंचाई एवं निराई-गुड़ाई कर इसमें नमी बनाए रखना जरूरी होता है। इसमें कोई रोग नहीं लगता है। रोपण के दो वर्ष तीन माह बाद अक्टूबर माह में फसल की कटाई की जाती है। जड़ों को धोकर छोटे-छोटे टुकड़ों में काटने के पश्चात् धूप में सुखाकर सुरक्षित स्थानों पर रखते हैं। इसके पश्चात् ग्रेडिंग करे बोरों में भंडारित करते हैं। इस प्रकार 70 किग्रा. सूखी जड़ें (127 ग्राम/पौध) प्राप्त हो सकती है। इसकी बाजार दर 50-75/रुपए किग्रा (सूखी जड़े) है। 3 वर्ष बाद 30-40 क्विंटल सूखी जड़ें/हेक्टेयर तथा 25 किग्रा. बीज भी प्राप्त किया जा सकता है। इसके कृषि कार्यों पर अनुमानत: लागत 500 रुपए/नाली आती है जबकि कुल आय 3500 रुपए/नाली तक प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 3000 रुपए/नाली तथा औसत लाभ 1000 रुपए/नाली तक प्राप्त हो सकता है। जड़ों की कलम से पौध लगाने पर फसल अवधि एक वर्ष कम हो जाती है तथा औसत लाभ भी बढ़ जाता है। इसकी जड़ों में 15-20 प्रतिशत तक वाष्पशील तेल, ''सॉसुरीन'' (0.05 प्रतिशत saussurine) तथा रेजन (6 प्रतिशत) एवं टैनिन भी पाया जाता है। इसकी जड़ें वातकफनाशक, रक्तदोषांतक श्वेतप्रदर, रक्तप्रदर नाशक, वीर्यवर्धक, कांतिवर्धक होती है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क का विकास, मासिक धर्म की विभिन्न रुकावटों को समाप्त करने तथा मूत्र, मूत्राशय संबंधी विभिन्न रोगों के निवारण में भी इसका उपयोग किया जाता है। यह पौधा भी अविवेकपूर्ण दोहन के कारण लुप्तप्राय श्रेणी में सम्मिलित हो चुका है।

जटामांसी: वानस्पतिक भाषा में इसे ''*मारकोस्टेकिस जटामांसी*'' कहते हैं। इसे नम एवं बलुई-दोमट मिट्टी में उगाया जा सकता है। जलामांसी जम्मू कश्मीर व नेपाल में हिमालय की 2500-3500 मीटर की ऊँचाई वाले उपहिमाद्रि एवं हिमाट्रि क्षेत्रों में पाया जाता है। इसे बीजों एवं जड़ों द्वारा उगाया जा सकता है। बीजों से बोआई हेतु 15 ग्राम बीज प्रति नाली की आवश्यकता होती है जिनकी मई में पंक्ति में बोआई की जाती है। नर्सरी में तैयार पौधों को अगले वर्ष जुलाई में 30 सेमी 20 सेमी. की दूरी पर रोपित किया जाता है। इस प्रकार 3300 पौध/नाली रोपे जा सकते है। कटाई के पश्चात् जड़ों को आंशिक छाया में सुखा कर धूल-मिट्टी साफ करके बोरों में भरकर भंडारित किया जाता है। इस प्रकार 25 किग्रा. सूखी जड़ें (7.5 ग्राम/पौध) प्रति नाली का औसत उत्पादन प्राप्त हो सकता है। इसका बाजार भाव 150-200 रुपये/किलोग्राम (सूखी जड़) है। इसके कृषीकरण पर लागत 2500 रुपये/नाली आती है जबकि कुल आय 3750 रुपये/नाली प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 250/रु/नाली तथा औसत आय रुपये 415/नाली प्रतिवर्ष प्राप्त होती है। बाजार भाव कम होने के कारण इस जाति का कृषिकरण आर्थिक दृष्टि से वर्तमान में लाभकारी नहीं है लेकिन इसका प्रकृति में बचाव एवं संरक्षण जरूरी है। इसकी जड़ों की खेती करने पर फसल अवधि एक वर्ष कम हो जाती है तथा उत्पादन भी अधिक होता है। जटामांसी का (कंदो का) उपयोग मिर्गी तथा अन्य मानसिक विकृतियों एवं बालों के बढने के लिए किया जाता है।

चिरायता: वानस्पतिक भाषा में इसे *स्वेर्टिया चिरायिता* (*Swertia chirayita*) कहते हैं। इसे बलुई-दोमट मिट्टी में, जिसमें कार्बनिक तत्वों की अधिकता हो, उगाया जा सकता है। यह पादप नम छायादार एवं अच्छी जल निकासी वाले हिमाद्रि क्षेत्रों में 1800 से 2500 मीटर की ऊंचाई पर जम्मू कश्मीर व नेपाल के हिमालय क्षेत्रों में पाया जाता है। इसे बीजों द्वारा उगाया जाता है। इसके कृषीकरण हेतु 40 ग्राम बीज/नाली की आवश्यकता होती है। इनके अंकुरण की अवधि 30 से 45 दिन होती है तथा इन्हें मार्च-अप्रेल में एक पंक्ति में बोया जाता है। जुलाई-अगस्त में 30 सेमी. 30 सेमी. की दूरी पर 2200 पौध/नाली का रोपण किया जाता है। रोपण के 18 माह पश्चात् अक्टूबर-नवंबर माह में फसल कटाई की जाती है। कटाई के पश्चात् आंशिक छाया में इसे सुखाकर भंडारित किया जाता है। इससे 22 किग्रा. सूखा पंचाग (10 ग्राम/पौध) प्राप्त होता है। इसका बाजार भाव रुपए 200-225 किग्रा है। इसके कृषीकरण पर लागत लगभग रुपए 2000/नाली आती है जबकि कुल आय 4400 रुपए/नाली तथा औसत लाभ लगभग 1200 रुपए/नाली/प्रतिवर्ष तक प्राप्त हो सकता है। चिरायता का संपूर्ण पादप कड़वा, टॉनिक एवं खून साफ करने वाला है।

बन ककडी: इसका वानस्पतिक नाम *पोडोफाइलम हेक्सैन्ड्रम* (*Podophyllum hexandrum*) है तथा यह *पोडोफिलेसी* कुल का सदस्य है। इसे संस्कृत में वन्यकर्कटी, वनन्त्रपुस, हिंदी में वनककड़ी, बबरचिमेका, बंगाली में पेपरा, मराठी में पटवेल, गुजराती में बेनीवेल, पंजाबी में वन काफरी, कश्मीरी में वन वानगन, अंग्रेजी में ''इंडियन पोडोफाइलम'' तथा गढ़वाली में बन ककडी कहा जाता है। इस पौधे पर मई-जून माह में सफेद/गुलाबी रंग का एकल प्याला सदृश फूल खिलता है। यह पौधा हिमालय के हिमाद्रि एवं उपहिमाद्रि क्षेत्रों में कश्मीर से लेकर उत्तरांचल तक 2200 से 4000 मीटर तक की ऊंचाई वाले क्षेत्रों में पाया जाता है। उत्तराखंड में यह शीतोष्ण क्षेत्रों में मोरू, खांसू वनों के छायादार कार्बनिक तत्वों की अधिकता वाले स्थानों एवं बुग्याल क्षेत्रों में प्राकृतिक रूप में पाया जाता है। यह 800-1300 मिमी. वर्षा एवं 0-18 डिग्री ताप में अच्छा होता है। इसका प्रवर्धन बीजों एवं प्रकंदी जड़ों (राइजोम) द्वारा होता है। बीजों से उगाने हेतु 150 ग्राम बीज प्रति नाली तथा राइजोम हेतु 2 किलो राइजोम कटिंग प्रति नाली की जरूरत होती है। मार्च-अप्रेल में बीजों की एक पंक्ति में (7-8 किग्रा./हेक्टेयर) बोआई की जाती है। रोपण हेतु अगले वर्ष जुलाई में 30 सेमी 30 सेमी. की दूरी पर 2200 पौध/नाली रोपित किए जाते हैं। रोपण के 2 वर्ष 3 माह पश्चात् सितंबर-अक्टूबर माह में इसकी कटाई की जाती है। कटाई के पश्चात अच्छी तरह धोकर धूप में सुखाते हैं तथा बोरों में भंडारित करते है। बोआई के 5-6 वर्षो बाद ही इसके कंदो में सक्रिय घटक की मात्रा अधिक होती है। वन ककड़ी के कंदों से रेजिन निकालने हेतु सितंबर-अक्टूबर में खोदना चाहिए जबकि इसके सक्रिय रसायन पोडोफाइलोटॉक्सिन हेतु फरवरी-मार्च का मौसम उपयुक्त रहता है। 5 वर्षों बाद 30-40 क्विंटल सूखी जड़ें एवं कंद प्रति हेक्टेयर तथा 10 किग्रा.बीज भी प्राप्त होते हैं। दो वर्ष 3 माह पश्चात् कटिंग करने पर 8.8 किग्रा सूखे राइजोम/जड़ें (4 ग्राम/पौध) प्रति नाली प्राप्त होते हैं। इसका बाजार भाव 100-150 रुपए किग्रा (सूखे राइजोम प्रति जड़ें) हैं तथा कृषीकरण लागत रुपए 2500/नाली आती है जबकि दो वर्ष 3 माह बाद कुल आय 880 रुपये/नाली तक प्राप्त होती है। बाजार दर कम होने से इस जाति का कृषीकरण सामान्यत: लाभकारी नहीं है। लेकिन इसका बचाव एवं संरक्षण जरूरी है। राइजोम के कटिंग से बेहतर उत्पादन प्राप्त होता है। इसकी जड़ों में पोडोफाइलिन (32-54 प्रतिशत) नामक ऐल्कोलॉइड पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें एल्फा पेल्टाटीन, बीटा-पेल्टाटीन, ब्रैवेरिन पौडोफिल्किन, पोडोफिलेटॉक्सिन इत्यादि तत्व भी विद्यमान होते हैं। इसकी जड़ों का औषधीय महत्व होता है। तिक्त, वीर्य, उष्ण, कटु, वातघ्न, पित्तसारक, संग्राही, वामक, रेचक एवं उद्दीपित करने वाली है। यह कैन्सर रोग में एवं टयूमर तथा चर्म रोगों में भी उपयोगी है।

फरण : वानस्पतिक भाषा में फरण को एलियम *स्ट्रेकियाई* कहते हैं। एलियम की चार जातियां लैका या *एलियमवैलिकाई* (*Allium wallichii*), लादूम या *एलियमझूमाइल* (*Allium jhunile*) एवं फरण (*Alium strachii*) पाई जाती हैं। इस का पौधा बलई-दोमट मिट्टी में होता है, जिसमें कार्बनिक तत्वों की अधिकता हो। यह शुष्क एवं बड़े शीतोष्ण (Temperate) से अल्पाइन (Alpine) क्षेत्र में 2200 से 3500 मीटर की ऊचाई पर पाया जाता है। इसे बीज एवं कंद द्वारा प्रवर्धित किया जाता है। इसके बीज की अंकुरण अवधि 20 से 25 दिन है तथा बोआई हेतु 30 ग्राम बीज प्रति नाली की आवश्यकता होती है। इसे मार्च-अप्रैल में एक पंक्ति में बोया जाता है और जुलाई में रोपित किया जाता है। सामान्यत: 30 सेमी. × 20 सेमी की दूरी पर रोपण करते हैं तथा 3-4 पौधे एक साथ रोपित करना उपयुक्त रहता है। इस प्रकार 3300 पौध/नली का रोपण किया जाता है। इसकी फसल तैयार होने की अवधि 5 वर्ष है तथा इसकी कटाई वर्ष में तीन बार पहली अक्टूबर-नवंबर में, दूसरी अप्रैल में तथा तीसरी जुलाई में की जाती है। कटाई में ऊपरी भाग को काटकर फूल एवं पत्तियां अलग कर लेते हैं।

2185 एच.आर.डी./10—8अ

फूलों को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटने के पश्चात् पत्तियों को आंशिक छांव में सुखाते हैं तथा बोरो में भंडारित कर लेते हैं। गुणवत्ता बनाए रखने हेतु इन्हें नमी से बचाना चाहिए।

इसका औसत उत्पादन 5 किग्रा. सूखी पत्तियां तथा फूल (1.5 ग्राम/पौध) है। इसका बाजार भाव 250 से 300 रुपए किलोग्राम (सूखी पत्तियां तथा फूल) है। इसके कृषीकरण पर लागत लगभग 500 रुपए/नाली आती है जबकि कुल आय (5 वर्ष में) लगभग 6250 रुपए हो सकती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 5750 रुपए/नाली (5 वर्ष में) प्राप्त हो सकता है एवं औसत लाभ लगभग 1150 रुपए प्रति नाली/प्रतिवर्ष तक प्राप्त हो सकता है।

तगर : इसका वानस्पतिक नाम *वेलोरियाना जटामौसी* है जो वेलिरियानेसी कुल का सदस्य है। इसे संस्कृत में तगर हिंदी में मुस्कबला, बंगला में तगर, मुश्कवाला, पंजाबी में बालामुस्क, कश्मीर में मुस्कबला, अंग्रेजी में इंडियन वलेरियन तथा गढ़वाली में सुनिया, तगर आदि नामों से जाना जाता है। यह पौधा मूलत: यूरोप एवं दक्षिण एशिया का है। परंतु हिमालय की निचली पर्वत श्रृंखलाओं पर कश्मीर से लेकर भूटान तक 1200-1400 मीटर की ऊँचाई में सुलभता से मिलता है। यह नम एवं ठंडे शीतोष्ण क्षेत्र में भी मिलता है। इसकी खेती हेतु पौधशाला में 1 से 3 मी. लंबी व जमीन से 6 इंच ऊँची क्यारियों में गोबर एवं अन्य खाद मिलाकर 15 ग्राम बीज/नाली अथवा 2200 पौध/नाली से बोआई करते है। एक हेक्टेयर खेत में 500-600 ग्राम बीजों की आवश्यकता होती है। मार्च-अप्रैल में बोआई एक पंक्ति में की जाती है। जब पौधे 10-15 सेंमी. के हो जाएं तो 30 सेंमी. × 30 सेमी की दूरी पर जुलाई माह में रोपण करते हैं। इस प्रकार 2200 पौधे/नाली का रोपण किया जाता है। रोपण के बाद सिंचाई एवं हर 10-15 दिन बाद नियमित निराई-गुड़ाई तथा 6 माह बाद 20 किग्रा/हेक्टेयर की दर से नाइट्रोजन मिलाना उपयुक्त रहता है।

रोपण के 2 वर्ष 3 माह पश्चात् इसकी जड़ों को निकाला जाता है। नवंबर माह में जड़ों को निकाल कर चलते पानी में धोते हैं तथा धूप में सुखा कर बड़ी जड़ों को छोटे छोटे सामान्य टुकड़ों में काटने के पश्चात् भंडारित कर लेते हैं। इसका औसत उत्पादन 50 किग्रा (सूखी जड़ें) है। इसके कृषीकरण पर लागत रुपए 800/नाली आती है जबकि कुल आय 4000 रुपए/नाली प्राप्त होती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 3200 रुपए/नाली तथा औसत लाभ 1066 रुपये/नाली/प्रतिवर्ष प्राप्त होता है। जड़ों को खोदने से औसत लाभ 1066 रुपए/नाली/प्रतिवर्ष प्राप्त होता है। जड़ों को खोदने से पूर्व सिंचाई करना सुविधाजनक होता है। तगर की सामान्य भूमि पर खेती में लागत लगभग 7500 रुपए/हेक्टेयर तथा लाभ लगभग 66000 रुपये (सूखे फल 8-10 क्विंटल ×70 रुपए 5600 + रोपण सामग्री (बीज 5 किग्रा)×2000 रुपये 10,000) प्राप्त होता है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 3200 रु./नाली तथा औसत लाभ 1088 रुपए/नाली प्रतिवर्ष प्राप्त होता है। तगर में मुख्यत: वाष्पशील तेल (0.25-1.5 प्रतिशत) होता है। इस तेल में प्रधानत: वैलेरिक अम्ल (Valaric acid) अर्पीन, ऐल्कोहॉल आदि पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त तगर के मूलस्तंभ में वालिपाटरिएट नामक तत्व भी पाया जाता है। इसकी जड़ों में तिक्त, कटु, उष्ण, त्रिदोषहर, वेदनास्थापन, आक्षेपहर, मेधा, दीपन, शूल प्रशमन, सारक, यकृत उत्तेजक, कफघ्न, श्वासहर, मूत्रजनन, कुष्ठाघ्न गुण होता है। इसके मूल का उपयोग नेत्ररोग, शिरा रोग, विष, रक्तविकार, अपस्मार, मानसिक तनावों, मिर्गी के दौरों आदि रोगों में किया जाता है। इसके तने से हृदय की शक्ति और नाड़ी की गति बढ़ती है। तगर के तेल का उपयोग तंबाकू एवं बीयर को सुंगधित बनाने में भी किया जाता है।

सर्पगंधा : इसे वानस्पतिक भाषा में *रौवॉल्फिया सर्पेन्टाइना* कहते हैं तथा यह एपोसाइनेसी कुल का सदस्य है। इसे संस्कृत में चंद्रिका, असामिया में चंद्रमामा, अराचोतीता, बंगाली में चन्हा, कन्नड में शिवनाभि, मलयालम में

2185 एच.आर.डी./10—8ब

चुवन्न, आविल, पोरी, मराठी में करकई, उड़िया में सोनावादी, तमिल में चवन्न-एबिलपोदी, सेवन्तभिलावोरी, तेलुगु में पाटल गंधी तथा अंग्रेजी में सर्पेन्टिन रूट कहा जाता है। यह बलुई-दोमट मिट्टी में हो सकता है तथा हिमालय की तलहटी से बंगाल एवं असम, मेघालय की सीमा, झारखंड, तमिलनाडु की अण्णमलै पर्वत श्रृंखला एवं केरल के दक्षिण पश्चिमी भाग से छत्तीसगढ़ तक अर्थात् गर्म एवं आर्द्र क्षेत्रों में 350 से 1200 मी. की ऊँचाई तक हो सकता है। इसे बीजों द्वारा एवं जड़ों की कटिंग से उगाया जा सकता है। बीजों को 24 घंटे भिगोकर थिरम से उपचारित कर 1.5 × 1.5 मीटर की क्यारियों में बोआई करते हैं। इसके बीजों की अंकुरण अवधि 20 से 30 दिन है तथा लगभग 150 ग्राम बीज/नाली की आवश्यकता होती है। (6 किग्रा/हेक्टेयर) बीजों की बोआई जून में करते हैं तथा जुलाई-अगस्त में रोपण करते हैं। पौध से पौध की दूरी 30 सेमी. × 30 सेमी रखते हैं। इस प्रकार 2200 पौध/नाली का रोपण करते है। इसकी खेती में उर्वरक, सिंचाई एवं निराई-गुडाई उपयुक्त समय पर करके 18 माह बाद दिसंबर-जनवरी में (अगले वर्ष) फसल-कटाई के लिए तैयार हो जाती है। नवंबर-दिसंबर में बीजों को एकत्र कर लेते है। जड़ों को काट कर अलग करने के पश्चात् सावधानीपर्वूक इस प्रकार धोते हैं कि छिलका क्षतिग्रस्त न हो। तदुपरांत आंशिक धूप में सुखा कर बोरों में भंडारित कर लेते हैं। इस प्रकार औसत उत्पादन 55 किग्रा. सूखी जड (25 ग्राम/पौध) प्रति नाली अर्थात् 25-28 क्विंटल सूखी जड़/हेक्टेयर तथा 50 किग्रा. बीज भी प्राप्त होते हैं। इसकी पत्तियों पर कभी कभी फफूँद की सफेद परत पड़ने पर डायथेन जेड-18 के 0.3 प्रतिशत घोल का छिड़काव करते हैं। इसकी जड़ों का बाजार भाव 80-100 किग्रा (सूखी जड़) हैं। इसके कृषीकरण पर लगभग 200 रुपए/नाली खर्च आता है जबकि कुल आय लगभग 4400 रुपए/नाली तक प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 2400 रुपए/नाली तथा औसत लाभ लगभग 1200 रुपये/नाली/प्रतिवर्ष तक प्राप्त हो सकता है। जड़ों को खोदने से पूर्व सिंचाई करना उपयुक्त रहता है। प्रति हेक्टेयर सर्पगंधा की लागत लगभग 10,300 रुपए/हेक्टेयर आती है जबकि लाभ 1,40,000 रुपये/हेक्टेयर तक (सूखी जड़ों तथा बीज रोपण हेतु सहित) प्राप्त हो सकता है। इसकी जड़ों में 1.7 से 3 प्रतिशत तक ऐल्केलॉइड पाए जाते हैं जिनमें रेसरपीन, सर्पेन्टिन, आदि प्रमुख है। इसके अतिरिक्त स्टार्च, गोंद, लवण आदि भी पाए जाते हैं। इसकी जड़ें अल्प मात्रा में कटुपौष्टिक, पित्तसारक एवं ज्वरघ्न होती हैं। यह रक्तदाब में, स्त्रियों के रोगों में पागलपन दूर करने एवं निद्रा लाने में काम आती है।

कलिहारी : वानस्पतिक भाषा में इसे *ग्लोरियासा सुपर्बा* कहते हैं तथा यह लिलिएसी कुल का सदस्य है। इसे संस्कृत में लांग्नी, कलिहारी, हिंदी में कलिहारी, बंगला में बिसलंगुली, मराठी में करन्निग, गुजराती में बारूवाड़ी, तेलगु में गंजेरी, तमिल में एक्किनीचिलम, कनड्ड में अग्निशिखा, मलयालम में मेलोनी, पंजाबी में काटियारे तथा अंग्रेजी में मालाबार ग्लोरी लिली कहा जाता है। यह बहुवर्षीय लता पादप समस्त भारतवर्ष में गर्म तथा आर्द्र उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में 350 से 6000 फुट तक प्राकृतिक रूप में मिलता है। इसके अतिरिक्त यह श्रीलंका, म्यांमार, मलाया, चीन एवं अफ्रीका में भी मिलता है। इसे राइजोम एवं बीजों द्वारा उगाया जा सकता है। बीजों को वर्षा से पूर्व नर्सरी में (मई-जून) लगाया जाता है तथा इनकी अंकुरण अवधि 25-30 दिन होती है। 75 ग्राम बीज/नाली अथवा 50 किग्रा/राइजोम/नाली की आवश्यकता होती है। राइजोम से खेती करना यद्यपि आर्थिक दृष्टि से मंहगा होता है परंतु इससे पहले वर्ष में ही फूल तथा बीज प्राप्त होने लगते हैं। इसमें कृत्रिम परागण से अधिक उत्पादन प्राप्त होता है। इसके आरोहण हेतु निर्गुंडी (*Vitex nigundo*) तथा धोला (*Woodfordia fructicosa*) उपयुक्त जातियां हैं। इसके कंदों अथवा पौधे को 60 सेमी एवं 45 सेमी. की दूरी पर रोपित करते हैं। इस प्रकार कंदों से खेती करने पर 8-9 क्विंटल कंद/हेक्टेयर की जरूरत होती है जबकि पौध से खेती करने पर 1100 पौध/नाली की जरूरत होती है। कलिहारी पर फूल अगस्त-सितंबर माह में एवं फल अक्टूबर-नवंबर में आते हैं तथा फसल 6 माह में तैयार हो जाती है। नवंबर-दिसंबर में फलों को तोड़ कर बीज निकाल लेते हैं तथा छिलका अलग कर सुखाते हैं। पर्याप्त सुखाने के बाद बीजों को वायुरोधी डिब्बों में तथा छिलकों को बोरों में भंडारित कर लेते हैं। इस 5 वर्षीय फसल से तीन वर्ष पश्चात् 10 किग्रा.बीज/प्रति वर्ष (9 ग्राम/पौध) तथा 44 किग्रा सूखे राइजोम प्राप्त होते हैं। 5 वें वर्ष में 40 ग्राम राइजोम/प्रति पौध प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रति हेक्टेयर लगभग 250-300 किग्रा बीज एवं 150-300 किग्रा छिल्के तथा 5 वर्ष बाद ढाई से 3 टन सूखे कंद भी प्राप्त होते हैं। इसके बीजों का बाजार भाव 350-450 रुपए/किग्रा तथा राइजोम का मूल्य 80-100/किग्रा/होता है। इसके कृषीकरण पर 2500 रुपए/नाली प्रथम वर्ष में एवं उसके बाद रुपए 500/वर्ष अर्थात् कुल 5000 रुपये/5 वर्ष (3-5 वर्ष में) होती है। अत: शुद्ध लाभ 9520/नाली/5 वर्ष तथा औसत लाभ 1200 रुपए/नाली/वर्ष तक प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार 23000 रुपए/हेक्टेयर लागत खर्च से 3 लाख रुपए/हेक्टेयर अर्थात् 2,75000 रुपए/हेक्टेयर का लाभ प्राप्त हो सकता है। इसमें सामान्यत: कोई रोग नही लगता है। कलिहारी के कंदो, फलों एवं बीजों में 0.2-0.3 प्रतिशत कोल्चिसिन एवं अक्तोरिओसिन ऐल्केलॉइड एवं सुगंधित तेल, बेन्जोइक अम्ल, सेक्सिलिम अम्ल, कोकिन शर्करा आदि पाए जाते हैं। कलिहारी शोथ, कंठमाला गठिया, वात वेदना, कुष्ठ व अर्श में टॉनिक के रूप में तथा मूढ़ गर्भपातन में भी उपयोगी होता है। कलिहारी एक उपविष है तथा अल्प मात्रा में देने पर गर्भ निस्सारक के रूप में कार्य करती है। अत्यधिक अविवेक पूर्ण दोहनके कारण यह जाति प्राय: लुप्त पादप में सम्मिलित हो चुकी है।

शतावर : इसका वानस्पतिक नाम *ऐसपैरेगस रेसीमोसस* है तथा यह लिलिएसी कुल का सदस्य है। प्राचीन काल में ग्रामीण लोग इसको "नाहरकांटा" के नाम से पुकारते थे क्योंकि इसकी बेल की शाखाओं के हर पोर पर शेर के पंजे में मुड़े हुए नाखून की तरह का कांटा रहता है। संस्कृत में इसे शतावरी, हिंदी में शतावर, बंगला में सतमूली, गुजराती में शतावर, कन्नड में जाएवेल, मलयालम में शतावली, मराठी में सतावरी, पंजाबी में शतवार तमिल में कीलवरी, हिमाचल प्रदेश में शतावरी, सहस्त्रमूल तथा अंग्रेजी में ऐसपेरेगस कहा जाता है। यह पौधा एशिया, अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया में मूलत: पाया जाता है। हिमालय में यह पादप 1200 मीटर की ऊंचाई वाले क्षेत्रों में आर्द्र तथा उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में तथा मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ आदि राज्यों में भी पाया जाता है। यह सामान्यत: 300 से 1500 मीटर की ऊँचाई वाले क्षेत्रों में मिलता है। जो बलुई दोमट एवं अच्छी जल निकासी वाली भूमि में हो सकता है। इसके लिए 10-15 सेंमी. ताप एवं 250 से.मी. वर्षा उपयुक्त होती है।

शतावर का प्रवर्धन बीजों एवं डिस्क के विभाजन द्वारा किया जा सकता है। बीजों से प्रवर्धन के लिए नर्सरी में 1 से 10 मीटर की क्यारियों में मई-जून में 150 ग्राम बीज/नाली, बीजों की बोआई की जाती है। प्रति हेक्टेयर भूमि हेतु 12 किग्रा. बीजों की आवश्यकता होती है। बीजों की अंकुरण अवधि 20 से 25 दिन है तथा इनसे तैयार 8-10 सेंमी. लंबी पौध को जुलाई-अगस्त में 60 60 सेंमी के अंतराल पर लगाया जाता है। इस प्रकार 550 पौध प्रति नाली रोपित किए जाते हैं। भूमिगत जड़ों (डिस्क) से 20 दिनों में पौध तैयार की जा सकती है। यह फसल 18 माह में तैयार की जाती है तथा जब पौधा पीला पड़ने लगे तब दिसंबर-जनवरी में जड़ों की खुदाई कर लेते हैं। इन जड़ों में 90 प्रतिशत तक आर्द्रता रहती है। इन जड़ों में चीरा लगाकर छिलका उतार लेते हैं तथा इन्हें धूप में सुखा कर बोरों में भंडारित कर लेते हैं। इससे 75 किग्रा. सूखी जड़/नाली अर्थात् 9 टन सूखी जड़/हेक्टेयर तक प्राप्त हो सकती है तथा साथ ही रोपण सामग्री भी प्राप्त हो सकती है। इसके कृषीकरण पर लागत लगभग 800 रुपये प्रति किग्रा./नाली आती है। जबकि इसकी जड़ों के बाजार भाव (30-45 रुपये प्रति किग्रा.

सूखी जड़) के आधार पर कुल आय 2250/नाली तक प्राप्त होती है। प्रति हेक्टेयर लागत लगभग 18,000 रुपए एवं लाभ लगभग 1,90,000 (सूखी जड़ एवं रोपण सामग्री सहित) तक प्राप्त हो सकता है तथा कुल लाभ 1,72,000/हेक्टेयर प्रति 18 माह प्राप्त हो सकता है। प्रति नाली शुद्ध लाभ रुपए 1450/नाली तथा औसत लाभ 725 रुपए/नाली/प्रतिवर्ष तक प्राप्त हो सकता है। इसे विभिन्न तापमानों एवं वर्षा वाले क्षेत्रों में उगाया जा सकता है। शतावर की कंदिल जड़ों में सतावरिन-1 एवं सतावरिन IV रसायन पाया जाता है। सतावरिन-1, सार्सपोजिनिन (Sarspoginin) का ग्लूकोसाइड होता है। शतावर की कंदिल जड़ें मधुर एवं रसयुक्त होती हैं। यह शीतवीर्य रसायन, कामोद्दीपक, मेधाकारक, जठराग्निवर्धक, पुष्टिदायक, अग्निप्रदीपक, रुधिर विकार, गुल्म सूजन, स्निग्ध, नेत्रों के लिए हितकारी, शुक्रवर्धक, दूध बढ़ाने वाली, बलकारक एवं अतिसार, वात, पित्तरक्त तथा शोथ दूर करने वाली होती है।

ब्राह्मी : वानस्पतिक भाषा में इसे *वेकोपा मोनिएरी* कहते हैं जो स्क्रोफुलरियेसी कुल का सदस्य है। इसे संस्कृत में किनीर ब्राह्मी, हिंदी में ब्राह्मी, मराठी, तमिल एवं मलयालम में नीर ब्रह्मी, कन्नड में नीरुब्रह्मी, तथा बंगला में जलनीम कहते हैं। औषधीय जगत् में यह प्रतिष्ठित जड़ी-बूटी मानी जाती है। इसकी खेती हेतु दोमट, रेतीली, हल्की काली मिट्टी एवं शीत-प्रधान तथा आर्द्र जलवायु वाले क्षेत्र उपयुक्त रहते हैं। ब्राह्मी पंजाब से पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु तक 350 से 1800 मीटर की ऊँचाई में पाई जाती है। इसके अतिरिक्त मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, बिहार, झारखंड, उत्तरप्रदेश, गुजरात, पश्चिमी बंगाल आदि प्रदेशों में सफलतापूर्वक उगाई जाती है। यह 350 से 1800 मीटर की ऊँचाई पर मिलती है। ब्राह्मी की खेती जड़ों-युक्त कटिंग से की जाती है। मानसून प्रारंभ होते ही जून-जुलाई में 30 30 सेमी की दूरी पर रोपण किया जाता है। इस प्रकार 2200 पौध प्रति नाली का अर्थात् 20,000 कलमों का लगभग प्रति हेक्टेयर पर रोपण किया जाता है। (कुछ स्थानों पर 60 60 सेमी. पर रोपण करते हैं)

यह 5-6 वर्षीय फसल है तथा इसकी कटाई प्रति 6 माह बाद सामान्यत: जून एवं अक्टूबर माह में की जाती है। फसल के ऊपरी भाग की कटाई करके छांव में अथवा अवन में (80 डिग्री ताप पर 30 मिनट तक) सुखा कर बोरों में भंडारित कर लेते है। इससे 100 किग्रा हरी घास अथवा 25 किग्रा सूखी घास (11 ग्राम/पौध) प्राप्त हो सकती है। प्रति हेक्टेयर लगभग 60-70 क्विंटल फसल प्राप्त हो सकती है। इसके कुछ पौधों को अगले वर्ष हेतु बीज सहित उखाड़ कर प्रयुक्त किया जाता है। ब्राह्मी का बाजार भाव 50-70 रुपए प्रति किलो (सूखी फसल) है। इसके कृषीकरण पर लागत लगभग 800 रुपए/नाली प्रथम वर्ष तथा उसके बाद रुपए 200 वर्ष अर्थात् 5 वर्ष में लगभग 1600 रुपए आती है। कुल आय लगभग 6250 रुपए प्रति 5 वर्ष में तथा शुद्ध लाभ 4650/रुपए/5 वर्ष तक औसत लाभ रुपए 930/नाली/प्रतिवर्ष तक प्राप्त हो सकता है।

ब्राह्मी में ब्रीन या ब्राह्मीन (Brahmin), हर्पेस्टीन (Harpestine), हाइड्रोकोटिलीन (Hydrocotylin) ऐल्केलॉइड, एशियाटिकोसाइड, वेलेरीन (Vellarine) वाष्शील तेल, रालीय सत्व तथा पेक्टिक अम्ल आदि पाए जाते हैं। ब्राह्मी मुख्यत: बलवर्धक औषधि के रूप में प्रयोग की जाती है तथा साथ ही वीर्य विकारों को भी दूर करती है एवं आयुवृद्धि करने की शक्ति भी रखती है। इस प्रकार इसमें आयुवर्धक, बृद्धि परिष्कारक व स्वर माधुर्यकारक तीन विशेष गुण विद्यमान होते है। यह हृदय की दुर्बलता दूर करने में भी उपयोगी है। इन पौधों में मेध्य (मेधावर्धक) एवं मानव रोगों की एक अचूक औषधीय गुणों की शक्ति है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी तेल को सौंदर्य प्रसाधनों के निर्माण में भी प्रयुक्त किया जाता है।

तिलपुष्पी : वानस्पतिक भाषा में इसे *डिजिटेलिस लैनाटा* कहते हैं जो *स्क्रोफुलेरिएसी* (Scrophulriacee) कुल का सदस्य है। इसे फॉक्सग्लव (Foxglove) के नाम से भी जाना जाता है। संस्कृत में इसे हृत्पत्री, घंटावीणा, तिलपुष्पी तथा अंग्रेजी में ''ग्रीसियन फॉक्सग्लव'' कहते हैं। इसका मूल निवास स्थान दक्षिण एवं मध्य यूरोप है। यह औषधीय पौधा हृदय-संबंधी रोगों के मरीजों के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। यह दोमट मिट्टी में (जिसमें कार्बनिक तत्वों की अधिकता हो) अच्छा होता है, परंतु रेतीली चिकनी मिट्टी में भी, जिसमें जल-निकास व्यवस्था उचित हो सकता है। यह गर्म तथा धूप वाले शीतोष्ण एवं सब अल्पाइन क्षेत्र में हो सकता है। तथा 1500 से 2500 मीटर की ऊँचाई पर भी हो सकता है। इसकी उन्नत किस्म ई.सी. 115996 है।

तिलपुष्पी की खेती बीजों द्वारा की जाती है। इसका बीज अत्यंत सूक्ष्म होता है जिसे 1 से 3 मी. की क्यारियों में छिड़क कर खेती करते हैं। बीजों की अंकुरण-अवधि 15-20 दिन होती है। मार्च-अप्रैल में बुआई के पश्चात् 6-8 सेमी की पौध का रोपण जुलाई में 30 सेमी 30 सेमी की दूरी पर किया जाता है। साधारणत: 100 ग्राम बीज/ नाली सीधे खेत में बोने के लिए अथवा 25 ग्राम बीज नर्सरी में उगाने हेतु आवश्यक होते हैं। एक हेक्टेयर खेत हेतु 2-3 किग्रा. बीजों की आवश्यकता होती है। इसमें खाद, सिंचाई एवं निराई-गुड़ाई के पश्चात् जलन रोग होने पर फफूंदनाशी (मेलाथियॉन, 0.5 प्रतिशत) का छिड़काव भी करते हैं। इस पादप के 2200 पौध/नाली का रोपण करते हैं और फसल अवधि 2 वर्ष होती है। रोपण के पश्चात फसल अवधि में 2-3 बार कटाई करते हैं। प्रथम कटाई अक्टूबर-नवंबर में एवं अगली दो कटाई मई-जून और अक्टूबर-नवंबर में की जाती है। प्रथम कटाई वाली पत्तियों में 0.65 प्रतिशत ग्लाइकोसाइड एवं दूसरी तथा तीसरी कटाई वाली पत्तियों में 1.25 प्रतिशत ग्लाइकोसाइड पाया जाता है। पौधों को काटकर धूल मिट्टी के कण दूर करने के लिए अच्छी तरह धोकर छांव में सुखाते हैं और वायुरोधी डिब्बों में भंडारित करते हैं। इससे 25 किग्रा सूखी पत्तिया (11 ग्राम/पौध) प्रतिनाली का औसत उत्पादन होता है अर्थात् 150-160 क्विंटल हरी पत्तियां अथवा 30-35 क्विंटल/हेक्टेयर सूखी पत्तियां प्रति हेक्टेयर की उपज प्राप्त होती है। इसके साथ ही 10 किग्रा बीज/हेक्टेयर भी प्राप्त हो सकते हैं। इसकी सूखी पत्तियों का बाजार भाव 100 रु./ किग्रा तक होता है।

कृषीकरण पर लागत लगभग रुपए 800/नाली आती है तथा कुल 2500 रुपए नाली 2 वर्षो में प्राप्त होती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ रुपए 1700/नाली प्रति 2 वर्ष तथा औसत लाभ 850 रुपए/नाली/प्रतिवर्ष तक प्राप्त हो सकता है। प्रति हेक्टेयर खेती में लागत लगभग 6000 रुपए आती है, जबकि यह आय सूखी पतियों एवं बीजों के रूप में 5000 रुपए/हेक्टेयर प्राप्त होती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 44000 रुपए/हेक्टेयर तक प्राप्त हो सकता है। तिलपुष्पी की पत्तियों में डिग्रोक्रिसिन (Digrokricin) नाम का कार्डिएक ग्लूकोसाइड पाया जाता है। इसके साथ-साथ लनाटोसाइड ए, लनाटोसाइड बी एवं सी भी पाया जाता है। तिलपुष्पी के पते हृदयावसादक, मूत्रजनक, ज्वरघ्न होते हैं। परंतु अधिक मात्रा में दाहजनक एवं मादक विष होते हैं। यह पौधा दमा, खांसी, क्षय, फुप्फुस से रक्तस्राव होना एवं फुप्फुसशोथ में लाभकारी होता है।

कैमोमाइल : इसका वानस्पतिक नाम *मेट्रीकेरिया चमोंलिया* है जो ऐस्ट्रेसी कुल का सदस्य है। मूलत: यह दक्षिण एवं पूर्वी यूरोप का पौधा है। यह शाकीय पादप है। इसे हिंदी में बाबून फूल, पंजाबी में बबुना तथा अंग्रेजी में ''वाइल्ड केमोमिल'' कहा जाता है। इसे जर्मन चमेली भी कहा जाता है। यह पादप हल्की मिट्टी से लेकर भारी दोमट मिट्टी में पी.एच. 10 (क्षारीय) की भूमि में भी उगाया जा सकता है। यह शीतोष्ण एवं उष्णकटिबंधीय दोनों प्रकार की जलवायु में अच्छी तरह पनपता है। यह पौधा संपूर्ण भारतवर्ष में सुलभता से पाया जाता है। भारत के अतिरिक्त यह

पौधा जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, रूस, मिश्र, जापान, स्विट्जरलैंड, अर्जेन्टाइना, कॉगों आदि देशों में भी होता है। भारत में यह 350 से 2500 मीटर की ऊंचाई में मिलता है।

कैमोमाइल या जर्मन चमेली का प्रवर्धन बीजों द्वारा ही होता है। इसके बीज उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में सितंबर-अक्टूबर में और शीतोष्ण क्षेत्रों में फरवरी माह में 20 ग्राम बीज/नाली अर्थात् लगभग 500 ग्राम बीज/हेक्टेयर की दर से बोए जाते हैं। बीजों की अंकुरण अवधि 15-20 दिन होती है लेकिन उपोष्ण क्षेत्रों में नवंबर में एवं शीतोष्ण क्षेत्रों में मार्च में रोपित किए जाते हैं। रोपण 30 सेमी 30 सेमी की दूरी पर 2200 पौध/नाली के आधार पर किया जाता है। 5-6 माह की उचित खाद एवं नियमित सिंचाई एवं निराई-गुड़ाई के अतिरिक्त रोग होने पर उचित कीटनाशी का प्रयोग आवश्क है। इस फसल में कैमोमाइल के पौध में मध्य फरवरी से मध्य अप्रैल तक फूल खिलते रहते हैं। फूलों को हाथों से अथवा यांत्रिक विधि से एकत्र कर छायादार स्थानों पर सुखा देते हैं। उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में 15 फरवरी से 15 अप्रैल तक तथा शीतोष्ण क्षेत्रों में मई-जून में फसल काटी जाती है। 5-6 कटाई 10 दिनों के अंतराल पर की जाती है तथा फूलों को सुरक्षित रखना आवश्यक होता है।

इसके फूलों को तोड़कर हल्की धूप में सुखाते हैं तथा 3-4 बार पलटते हैं। इसके पश्चात् वायुरोधी बॉक्स में भंडारित करते हैं। फसल को ड्रायर द्वारा 40-45 डिग्री सेग्रे. पर सुखाने से तेल की गुणवत्ता बनी रहती है। इसका औसत उत्पादन 100 किग्रा ताजे फूल अथवा 20 किग्रा सूखे फूल (9 ग्राम/पौध) प्रति नाली होता है। प्रति हेक्टेयर लगभग 50-80 क्विंटल फूल प्राप्त हो सकते हैं जो सूखकर 18-25 क्विंटल तक रह जाते हैं। इसके फूलों में औसतन 0.5-1.3 प्रतिशत तक सुगंध तेल पाया जाता है। इसका बाजार भाव 60-80 रुपये/किग्रा (सूखे फूल) है। इसके कृषीकरण पर लागत 500 रुपये/नाली आती है जबकि आय 1200 रुपए/नाली तथा शुद्ध लाभ 700 रुपए/नाली मात्र 5-6 माह में प्राप्त होता है। प्रति हेक्टेयर कृषि लागत करीब 10 हजार रुपए आती है जबकि प्राप्ति लगभग 1,50,000 रुपए हेक्टेयर तक हो सकती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 1,40,000 रुपए/ हेक्टेयर तक प्राप्त हो सकता है।

कैमोमाइल/जर्मन चमेली के तेल में एजुलीन (Azulene) मुख्य तत्व होता है। इसके अतिरिक्त इसमें पोरिल एल्कोहॉल, ट्राइकोनलोन एवं कैडेलीन तृतीयक ऐल्कोहॉल भी पाया जाता है। कैमोमाइल/जर्मन चेमली का तेल शोथरोधी, कामोद्दीपक, मूत्रल, आक्षेपरोधी, एलर्जीरोधी तथा शक्तिदायक होता है। जर्मन चमेली के फूलों का मुख्यत: उपयोग वासक पदार्थ के रूप में किया जाता है। इसके फूलों से तैयार की गई चाय, यूरोप में पाचन-विकारों को ठीक करने में इस्तेमाल की जाती है। इसके फूल एवं पौधे औषधि रूप में भूख बढ़ाने, पेट के अल्सर, ताकत बढ़ाने, सर्दी-जुकाम आदि के निवारण में प्रयुक्त होते है। इसका प्रयोग बालों के लिऐ डाई बनाने में भी किया जाता है। इसका तेल भैषजिक किण्वन एवं गंध उद्योगों में भी प्रयुक्त होता है।

लेमन घास : इसे वानस्पतिक भाषा में *सिम्बोपोगॉन फलेक्सुओसस* (*Cymbopogon flexuosus*) कहते हैं तथा यह पोएसी कुल का सदस्य है। इसकी पत्तियों में नींबू जैसी सुगंध आने से इसका नाम नींबू घास रखा गया। लेमन घास की खेती लगभग सभी प्रकार की मिट्टियों में की जा सकती है, परंतु इसके लिए रेतीली दोमट एवं बलुई दोमट मिट्टी उपयुक्त होती है। यह आर्द्र तथा गर्म उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में तथा 300 से 1500 मीटर ऊंचाई वाले क्षेत्रों में एवं 200-250 सेमी वर्षा वाले क्षेत्रों में हो सकती है। इसकी खेती हेतु गर्म तथा आर्द्र जलवायु उपयुक्त रहती है। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में यह असिंचित फसल के रूप में पैदा की जा सकती है।

इसकी खेती बीजों एवं स्लिपों द्वारा की जाती है। बीजों की अपेक्षा इसे स्लिपों से लगाना उपयुक्त रहता है। स्लिप हेतु एक वर्ष पुरानी पौध को उखाड़ कर उसकी स्लिपें अलग कर देते हैं। 25 से 30 सेमी की स्लिपें जिसमें 3-4 तल-शाखाएं ही उपयुक्त रहती हैं। इन्हें उपचारित कर जुलाई या फरवरी-मार्च (सिचिंत भूमि में) 60 सेमी. × 60 सेमी की दूरी पर रोपित करते हैं। सिंचित एवं उपजाऊ क्षेत्रों में कतार से कतार 60 सेमी एवं पौधे से पौधे की दूरी 45 सेमी रखते हैं जबकि असिंचित क्षेत्रों में 45 × 45 सेमी या 45 × 30 सेमी दूरी पर भी रोपण किया जाता है। सामान्यत: 550 स्लिप/नाली (60 × 60 सेमी दूरी पर) लगाते हैं। बीजों की बोआई वर्ष में दो बार जुलाई अगस्त माह में अथवा फरवरी मार्च माह में की जाती है। स्लिपों की वृद्धि अच्छी होने के कारण प्रति हेक्टेयर 40 हजार स्लिप लगाना उपयुक्त रहता है। इसमें खाद तथा सिंचाई के साथ-साथ निराई-गुड़ाई करना उपयुक्त रहता है। सामान्यत: इसमें कोई रोग नहीं लगता परंतु कभी-कभी अंगमारी (लीफ ब्लाइट) एवं पर्ण चित्ती (लीफ स्पॉट) तथा पीतरोग हो सकता है, जिसके लिए "मैकोजब या डायफोलेटान या डायथेन एम-45 अथवा बेनलेट 0.3 प्रतिशत घोल का छिड़काव किया जाता है।

इस 5 वर्षीय फसल की कटाई सामान्यत: अक्टूबर, फरवरी, मई एवं अगस्त में की जाती है। प्रथम कटाई लगभग 5-6 माह बाद करते हैं तथा फिर 90-100 दिन के अंतर पर कटाई की जाती है। कटाई के पश्चात् पत्तियों को धूप में 3-4 दिन रखते हैं तथा छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर आसवन करते हैं। इसका औसत उत्पादन 4 किग्रा तेल/वर्ष प्रति नाली होता है तथा इसकी बाजार दर 300 से 325 रुपए/किग्रा (तेल की) है। प्रथम कटाई में 10-12 किग्रा तेल/हेक्टेयर, प्राप्त होता है, परंतु दूसरे वर्ष के बाद से औसतन 50 किग्रा तेल/हेक्टेयर प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार प्रथम वर्ष के बाद अधिक आय प्राप्त होती है। इसके कृषीकरण पर लागत प्रथम वर्ष में 800 रुपए/नाली तथा उसके बाद 200 रुपए/वर्ष अर्थात् कुल रुपए/नाली प्रति 5 वर्ष आती है, जबकि आय लगभग 6000 रुपए/नाली प्रति 5 वर्ष होती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ 4400 रुपए/नाली प्रति 5 वर्ष तथा औसत लाभ 880 रुपए/नाली/प्रतिवर्ष तक प्राप्त हो सकता है। प्रति हेक्टेयर अनुमानत: लागत 25000 रुपए प्रथम वर्ष एवं 13000 रुपए प्रतिवर्ष (दूसरे से पांचवे वर्ष तक आती है, जबकि कुल आय 43750 रुपए (प्रथम वर्ष) एवं रुपए 70000 (द्वितीय से पांचवे वर्ष) तक प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ प्रथम वर्ष में रुपये 18750 एवं द्वितीय से पांचवें वर्ष तक में 57000 रुपए प्रति हेक्टयेर तक प्राप्त हो सकता है। लेमन घास की उन्नत किस्में है- प्रगति, प्रमाण, सुगंधी, कावेरी, कृष्णा, आर.एल.एल. 16, जी.आर.एल., ओ.डी. 19, एस.डी. 16 एवं सी.के.पी.-25 आदि। यह घास भारतवर्ष के दक्षिण-पूर्वी राज्यों केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक व असम, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश एव उत्तरांचल के निचले भागों में भी मिलती है।

लेमन ग्रास के तेल का मुख्य सक्रिय घटक सिट्रल (Citral) है जिसकी मात्रा 80-90 प्रतिशत तक होती है। लेमन घास का उपयोग विभिन्न औषधियों के निर्माण में किया जाता है। इसके अतिरिक्त उच्चकोटि के इत्र, सौंदर्य-प्रसाधनों एवं साबुन के निर्माण में भी इसका उपयोग किया जाता है। इसके तेल की आगे परिष्कृत एल्फा तथा बीटा आयोनेन प्राप्त किए जाते हैं जो विटामिन 'ए' के निर्माण हेतु महत्वपूर्ण कच्चे माल का कार्य करते हैं। इसके तेल में जीवाणु-रोधी गुण पाए जाते हैं तथा यह बुखार के उपचार एवं मच्छरों को भगाने, दांत-दर्द, सिरदर्द, पेटदर्द, आदि के उपचार में भी प्रयुक्त किया जाता है। इसके पत्तों का बहुधा उपयोग हर्बल टी, लेमन टी, अथवा ऐसी ही अन्य हर्बल चाय के निर्माण में किया जाता है।

जिरेनियम: इसे वानस्पतिक भाषा में *पेलारगोनियम ग्रेवियोलेन्स* (*Pelargonium graveolens*) कहते

हैं तथा साधारण भाषा में गुलाब जिरेनियम या सुगंधित जिरेनियम भी कहते हैं। इसकी खेती रंध्री एवं जल निकासी युक्त बलुई दोमट मिट्टी, उचित निकास वाली भुरभुरी, हल्की अम्लीय भूमि एवं साधारण भूमि वाली समतल, ढालू अथवा पहाड़ी नालियों वाली भूमि में की जा सकती है। पहाड़ी क्षेत्रों में यह अधिक उपयुक्त रहती है। इसके लिए शीतोष्ण एवं समशीतोष्ण जलवायु उपयुक्त है परंतु यह उच्च ताप एवं आर्द्रता के प्रति संवेदनशील मानी जाती है।

मैदानी क्षेत्रों में एक-वर्षीय फसल के रूप में यह फरवरी से जून तक तथा पर्वतीय क्षेत्रों में बहुवर्षीय फसल के रूप में उगाई जाती है। यह 350 से 2200 मीटर ऊँचाई वाले उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्र से मध्य शीतोष्ण क्षेत्र तक मिलती है। इसे शाखा की कलमों द्वारा उगाया जाता है। इनसे 15-20 दिन में जड़ें निकलने लगती हैं। उपोष्ण कटिबंधीय क्षेत्र में अक्टूबर-नवंबर में तथा शीतोष्ण क्षेत्रों में फरवरी-मार्च में 45 सेमी × 45 सेमी अंतराल पर लगभग 975 पौध/प्रति नाली का रोपण करते हैं। उपयुक्त खाद एवं सिंचाई से अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है। अक्टूबर, मार्च एवं जून में इसकी वर्ष में तीन बार कटाई की जाती है। रोपण के 4-5 माह बाद प्रथम कटाई एव उसके बाद 3 माह के अंतराल पर कटाई की जाती है। काटने के 3-4 घंटे के भीतर आसवन किया जाता है। इससे तेल प्राप्त होता है। लगभग 500 किग्रा हरा उत्पाद या 500 ग्राम तेल (0.1 प्रतिशत तेल) प्रति नाली प्राप्त होता है जिसका बाजार भाव लगभग 3200 रुपए/किग्रा है। प्रति हेक्टेयर 250 क्विंटल शाकीय भाग या 25 किग्रा तेल/हेक्टेयर/वर्ष तक प्राप्त हो सकता है।

इसके कृषीकरण पर लागत 1000 रुपए/नाली अथवा 40000 रुपए/हेक्टेयर/प्रतिवर्ष आती है जबकि आय 1600 रुपए प्रतिनाली/वर्ष या 80000 रुपरु/हेक्टेयर तक होती है। इस प्रकार शुद्ध लाभ रुपये 600 प्रति नाली प्रति वर्ष अथवा 45000 रुपए/हेक्टेयर/वर्ष तक प्राप्त हो सकता है। रोपण सामग्री (कलमें) से अगले वर्षो में लाभ बढ़ सकता है।

इसे गुलाब तेल का प्रतिस्थानी माना जाता है तथा इसकी मांग लगातार बनी रहती है। इसे पशु नहीं चरते तथा कम पानी वाले क्षेत्रों में इसकी खेती की जा सकती है। इसकी प्रमुख प्रजातियां ''बोरबोन'', ''एल्जीरियन'', हिम-पवन आदि है। इसमें सिट्रोनेलॉल (20-25 प्रतिशत) एवं जिरेनियाल (6.45 से 18.5 प्रतिशत) रसायन पाए जाते हैं। इसका तेल सौंदर्य प्रसाधनों, साबुन, औषधियों, सुगंध उद्योग एवं सौरभ चिकित्सा (ऐरोमाथेरेपी) आदि में प्रयुक्त होता है।

❑

13

रायबरेली जनपद में जल प्रदूषण

(सई नदी एक संवाहक के रूप में)

*ललित कुमार मिश्र**

प्रस्तुत शोध पत्र में रायबरेली जनपद के जल प्रदूषण पर सई नदी को एक संवाहक के रूप में चुना गया है।

अध्ययन क्षेत्र

उत्तर-प्रदेश में रायबरेली एक पिछड़ा हुआ जनपद है। रायबरेली उत्तर-प्रदेश के ऊपरी गंगा मैदान के पूर्वी भाग में लखनऊ जनपद के पूर्व-दक्षिण भाग में अवस्थित है। इसका अक्षांशीय फैलाव 25^0 41' उत्तर से 26^0 36' उत्तर तक तथा देशांतरीय फैलाव 80^0 34' पूर्व से 81^0 34' पूर्व है। इस जनपद का कुल क्षेत्रफल 4609 वर्ग किमी. है। यह उत्तर के विशाल मैदान का एक अभिन्न अंग है तथा गंगा एवं उसकी सहायक नदियों द्वारा लाए गए अवसादों के निक्षेपण से निर्मित एक समतल मैदानी भू-भाग है। उर्वर मिट्टी, जल की उपलब्धता तथा जलवायु की उपयुक्तता आदि के कारण इस जनपद में बढ़ती जनसंख्या का आर्थिक आधार कृषि पर आधारित है। यही कारण है कि यहां कुल भौगोलिक क्षेत्रफल के लगभग 60 प्रतिशत भाग पर कृषि की जाती है। अत: जनपद की लगभग 91% जनसंख्या कृषि कार्य में लगी हुई है। जनपद में मुख्यत: तीन प्रमुख नदियां हैं: गंगा, लोनी तथा सई। सई, गोमती की सहायक नदी है जो हरदोई जिले से निकलकर लखनऊ और उन्नाव जिलों की सीमा का निर्धारण करती है। सई नदी सबसे पहले रामपुर सुदौली नामक गांव के पास रायबरेली जनपद में प्रवेश करती हैं, और यहां पर लखनऊ रायबरेली और उन्नाव जिले की सीमा बनाती है।

अप्सु अंत : अमृतं, अस्तु भेषज। ऋग्वेद (1.23. 248)

अर्थात् जल में अमृत है, जल में औषधि गुण विद्यमान रहते हैं। अत: आवश्यकता है जल को शुद्ध रखने की।

शुद्धान अपस्तन्वे क्षरंतु।

(अथर्ववेद 12.1.30) में कहा गया है कि जल की शुद्धता स्वस्थ जीवन के लिए नितांत आवश्यक है।

''जल ही जीवन है'': जीव तथा वनस्पति की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए जल अपरिहार्य है। मानव जीवधारियों के शरीर के अधिकांश भाग में लगभग 60-70 प्रतिशत जल विद्यमान है। जल व जीवन एक दूसरे के पूरक हैं।

इस धरा पर जल तो बहुत उपलब्ध है परंतु स्वच्छ जल का प्रतिशत बहुत कम है। अधिकतर जल या तो समुद्र में खारे जल के रूप में है या ग्लेशियर के रूप में ध्रुवों पर जमा है। भूगर्भीय जल में बहुत बड़ी मात्रा में

*शोध छात्र, भूगोल विभाग, एम.डी.पी.जी. कालेज, प्रतापगढ़ (उ.प्र.)

रासायनिक तत्वों का मिश्रण होने से वह पीने योग्य नहीं है। नदियों तथा ताजा पानी की झीलों आदि के पीने योग्य जल को मनुष्य अपने स्वार्थों के लिए औद्योगिक अपशिष्ट एवं मल-मूत्र आदि से निरंतर प्रदूषित करता जा रहा है। आज पानी व वातावरण की क्षति के साथ-साथ मनुष्य के स्वयं के अस्तित्व पर भी प्रश्न चिह्न लग गया है।

जल के प्रकार

अ) स्वच्छ जल : स्वच्छ जल वह है जो रोगाणुओं से रहित हो, नुकसानदेह रासायनिक तत्वों से रहित हो, गंध या रंग से रहित हो और अप्रिय स्वाद से रहित हो। यदि ऐसा है तो वह स्वच्छ जल है, अन्यथा जल प्रदूषित है।

ब) प्रदूषित जल: प्राकृतिक जल में किसी प्रकार के आवांछित पदार्थ मिल जाने पर यदि उसकी रासायनिक एवं भौतिक गुणवत्ता में कमी आ जाती है तो उसे प्रदूषित जल कहा जाता है।

स) जैविक गुणधर्म : (क) 100 मिली. पानी के नमूने में कॉलीफार्म पदार्थ 10 से ज्यादा न हो। (ख) 100 मिली. पानी के नमूने में 'इकवैली' काउंट शून्य हो।

जल के इन गुणधर्मों के आधार पर जल की स्वच्छता के स्तर का पता लगता है।

सई नदी जल प्रदूषण के संवाहक के रूप में

नदियाँ प्राचीन काल से ही हमारे अस्तित्व का एक अहम् हिस्सा रही हैं। प्राचीन काल की सभ्याताओं ने अपना विकास इन्हीं नदी-घाटियों से आरंभ किया है और आज यही जीवनदायिनी नदियाँ अपना अस्तित्व खो रही हैं। आस्था व पवित्रता की प्रतीक हमारी नदियाँ अब इतनी प्रदूषित हो गई हैं कि इन्हें छूने में भी हिचक महसूस होती है।

पुराणों में 'शिवा' और रामायण में 'स्यादिंका' के नाम से वर्णित सई नदी रायबरेली जनपद की प्रमुख नदी है

तालिका - 1: जल और उसके गुण-धर्म

विवरण	मात्रा		इकाई
	स्वीकार्य	अस्वीकार्य	
(अ) *भौतिक गुण-धर्म*			
गंदलापन	2.5	10	जे.टी.यू. इकाई
रंग	2.0	25	प्लेटिनम कोबाल्ट
स्वाद या गंध	अप्रिय	अप्रिय	स्केल
पी.एच.	7.0-8.5	6.5-9.2	
(ब) *रासायनिक गुण-धर्म*			
ठोस विलेय	500	1500	पी.पी.एम.
हाइनेस	200	600	पी.पी.एम.
क्लोराइड	200	600	पी.पी.एम.
फ्लुओराइड	1.0	4.0	पी.पी.एम.
आर्सेनिक	0.05	0.05	पी.पी.एम.
क्रोमियम	0.05	0.05	पी.पी.एम.
साइनाइड	0.05	0.05	पी.पी.एम.

जिसका उद्गम हरदोई की एक झील से हुआ है। पुन: आगे यह रायबरेली से होते हुए जनपद प्रतापगढ़ में अठेहा के पास मुस्तफाबाद गांव में प्रवेश करती है। नदी की पूरी लंबाई 175 किमी. है। यह एक सतत प्रवाहमान नदी है जो जनपद के लगभग 10 हजार हेक्टेयर भूमि को बीहड़ में बदल रही है।

नदी के प्रदूषित होने के कारण

- रायबरेली जनपद की चीनी मिल व पेपर मिल के अपशिष्ट जल से।
- प्रतापगढ़ जनपद का वाहित जल (सीवेज) उपचार किए बिना नदी में मिला देने से।
- घरेलू अपमार्जक, कीटनाशी दवाइयों तथा मूर्तियों का विसर्जन आदि हानिकारक रासायनिक तत्वों की अधिकता से।
- शवों, पूजन-अर्चना द्वारा फल-फूलों, प्लास्टिक थैलियो व पूजन सामग्री को नदी में फेंकने से।

ऐसे अनेक कारण है जो नदी के जल को पूर्णत: प्रदूषित कर देते हैं। इन सभी कारणों के अलावा नदी में पानी की कमी व क्षारीयता प्रदूषण का स्तर बढ़ा देती है। इससे गर्मियों में कई बार मछलियाँ मर कर पानी में ऊपर आ जाती हैं, जिसके कारण पानी की कमी होती है। बारिश के मौसम में पानी की अधिकता से बहाव तेज होने के कारण अधिक मात्रा में प्रदूषित पदार्थ बह जाते हैं व कम मात्रा में रहते हैं।

सर्वेक्षण के समय लोगों ने बताया कि लगभग 20 वर्ष पूर्व यहां के लोग इस नदी के पानी का उपयोग पीने, नहाने व पूजा में करते थे मछुआरों ने कहा कि मछलियों की पहले जितनी जातियाँ अब नहीं मिलती है। प्रदूषण हमने किया है और उसकी सजा हमारे साथ-साथ जीवों को भी झेलनी पड़ रही है।

सई नदी मुस्तफाबाद में प्रवेश करने के बाद मंगापुर, बहादुरपुर, अगई आदि गाँवों से होती हुई जौनपुर में प्रवेश करती है।

जल प्रदूषण के दुष्परिणाम

दूषित पानी के सेवन से कई प्रकार की बीमारियां हो रही हैं

तालिका 2: सई नदी के जल में परीक्षण के बाद पाए गए स्तर कर विवरण

भौतिक स्तर	सई का स्तर	स्वीकार्य मात्रा (जल शुद्धता की)
गंदलापन	9.5 (जे.टी.यू. इकाई)	2.5 (जे.टी.यू. इकाई;
रंग	2.5 (प्लैटिनम कोबाल्ट स्केल पर)	2.0 (प्लैटिनम कोबाल्ट स्केल पर)
स्वाद या गंध	अप्रिय	अप्रिय
पी.एच.	9.8	7.0 से 8.5
रासायनिक स्तर		
विलीन ऑक्सीजन	9-20	4-00
बी.ओ.डी.	3-50	3-00
फ्लुओराइड	4-9	1-0
जैविक स्तर		
कॉलीफार्म	8400	5000

नोट : कॉलीफार्म की मात्रा मानव मल के द्वारा सर्वाधिक है।

- स्नान करने से कई गाँवों, जैसे अमान का पुरवा आदि के निवासियों द्वारा स्नान करने पर शरीर में लाल चकत्ते उभर आऐ।
- कई प्रकार की बीमारियाँ जैसे पोलियो, टाइफाइड, आंखों के रोग, एक्जिमा, अतिसार आदि।
- पानी में पनपने वाले जीवों की प्रदूषित पानी पीने से मृत्यु तथा इन मरे जीवों के सेवन तथा प्रदूषित पानी पीने से अन्य जीवों की जीवन-लीला का भी अंत।
- कृषि की सिंचाई के लिए अनुपयुक्त।

प्रदूषण मुक्ति के उपाय

- पीने के जल स्रोतों को ढ़क कर रखना चाहिए। कुँए व उसके चबूतरे का निर्माण और बहाव ठीक से होना चाहिए। कुँओं, तालाबों आदि में पक्षियों व जानवरों के प्रवेश को रोकना होगा।
- कठोर जल से अनेक रोग हो जाते हैं। इसलिए पानी उबालकर पीना चाहिए। उससे रोगाणु मर जाते हैं।
- जल-स्रोतों के पास गंदगी नहीं रहनी चाहिए।
- कारखानों से निकलने वाले अपशिष्ट पदार्थों के निपटान की समुचित व्यवस्था अनिवार्य है। साथ ही इन अपशिष्ट पदार्थों को निपटान से पूर्व दोषरहित किया जाना चाहिए।
- मृतक के दाह-संस्कार की क्रिया व लोगों की पूजा अर्चना व घरेलू पूजन-सामग्रियों के नदी में विसर्जन पर रोक लगानी चाहिए। प्रतीकात्मक कार्यक्रम बनाने चाहिए।
- कार्बनिक पदार्थों के निपटान से पहले उनका ऑक्सीकरण कर देना चाहिए।
- वाहित मल के पानी को दोषरहित करके नदी में मिलाने की व्यवस्था करनी चाहिए।
- पानी में जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए ब्लीचिंग पाउडर का प्रयोग करना चाहिए।
- राज्यों में स्थापित प्रदूषित जल निवारण व नियंत्रण मंडलों को उद्योगों पर कड़ी नजर रखनी चाहिए ताकि मानदंड से अधिक अपशिष्ट न डाले जाएं।
- कृषि में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग कम करना चाहिए।

व्यावहारिक पक्ष

सर्वप्रथम हमें एक ऐसी सोच की जरूरत है जिससे समाज में जागरूकता लाई जाए कि पर्यावरण हमारे लिए (जल, वायु, मिट्टी, वन आदि) उतने ही आवश्यक हैं जितना कि हमारा जीवन। हमें ऐसी गतिविधियों से बचना चाहिए जिनसे हमारे द्वारा अन्य जीवों के अस्तित्व पर संकट आ जाए। हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरों के जीवन को समाप्त कर दें।

जल में यह स्वाभाविक गुण है। (प्रकृति के हर तत्व में सामंजस्य का गुण है) कि वह स्वयं को शुद्ध रख सकता है। परंतु जब प्रदूषण ज्यादा बढ़ जाता है तो यह प्राकृतिक क्रिया समाप्त हो जाती है। जल में पाए जाने वाले शैवालों व जीवों में शुद्धता को बरकरार रखने की अहम् भूमिका रहती है, परंतु आज वे प्रदूषण से स्वयं को ही नहीं बचा पाते हैं। हमें खुद में एक सोच पैदा करनी है- पर्यावरण है तो जीवन है और हमारा भविष्य भी।

सुझाव :

नदियों में गंदे जल को डालने से पूर्व उसको शुद्ध करें तथा उसमें फेंके जाने वाले अपशिष्टों को एक अलग जगह जमा करके खाद के रूप में परिवर्तित करने के लिए लोगों को जागरूक करें कि जल हमारा जीवन है और इसकी हमें रक्षा करनी चाहिए। कारखानों के जल को शुद्ध करके अपमार्जकों को नदियों में डालने के विषय में प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड को कड़े नियम बनाने चाहिए। लोगों को धार्मिक कृत्य के रूप में नदियों की पवित्रता बनाए रखने के लिए विशेष आग्रह करना होगा।

निष्कर्ष

वर्तमान पीढ़ी का दायित्व है कि वह अपनी आगामी पीढ़ी को स्वच्छ संतुलित तथा प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण वातावरण दे। जल में ही जीवन का प्रथम अंकुरण प्रोटोजोआ के रूप में हुआ। जल में ही जीवन की किरण छुपी हुई है। वायुमंडल व हमारे शरीर का ज्यादातर हिस्सा जल स्तर पर ही निर्भर है। यह जीवित पदार्थों का पोषण है। हमें एक सोच पैदा करनी होगी कि हम अपने इन अमूल्य प्राकृतिक उपहारों के प्रति निष्ठावान बनें। अन्यथा जब ये न रहेंगे तो हम कब तक बचेंगे, विज्ञान आज भी इसका कोई विकल्प नहीं ढूँढ पाया है।

नदियाँ हमारे जीवन का हिस्सा है। जिस तरह रुधिर सारे शरीर में दौड़ कर ऊर्जा प्रदान करता है, उसी प्रकार नदियाँ इस पृथ्वी के क्रियाकलापों को ऊर्जा रूपी जीवन प्रदान करती हैं।

❑

पुस्तक समीक्षा

आधुनिक फलोत्पादन

उच्च शिक्षा तथा अनुंसधान के स्तर पर हिंदी में विज्ञान के संदर्भ-ग्रंथों का प्राय: अभाव सा है। ऐसी स्थिति में इस स्तर की मानक पुस्तकों का प्रकाशन, वैज्ञानिक ज्ञान के विकास-प्रकार के लिए अनिवार्य है। प्रसन्नता का विषय है कि कल्याणी पब्लिशर्स जैसे पूर्ण व्यावसायिक प्रतिष्ठान ने आधुनिक फलोत्पादन जैसे कृषकों एवं कृषि विद्यार्थियों के लिए डॉ. रामरोशन शर्मा, वरिष्ठ वैज्ञानिक द्वारा लिखित प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन किया है।

डॉ. रामरोशन शर्मा ने फलविज्ञान विषय पर अनेक पुस्तकों/आलेखों का लेखन किया है। डॉ. रामनाथ सिंह पुरस्कार (2004) तथा डॉ. राजेंद्र प्रसाद पुरस्कार (2006) डॉ. शर्मा को मिल चुके हैं। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, पूसा, नई दिल्ली के विभाग में फलविज्ञान वरिष्ठ वैज्ञानिक पद पर कटाई उपरांत प्रौद्योगिकी कार्यरत डॉ. शर्मा अंग्रेजी के साथ हिंदी में भी प्रामाणिक पुस्तकों का लेखन कर इस विषय पर अपना अनुपम योगदान देते रहे हैं। उनके अनेक शोधपत्र, लोकप्रिय व अन्य लेख राष्ट्रीय एवं अंतरराट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। निश्चय ही डॉ. शर्मा ने अपने विषय से संबंधित शिक्षण-प्रशिक्षण एवं तकनीकी ज्ञान-अनुभव विशेषज्ञता का पूरा समाहार प्रस्तुत ग्रंथ में किया है।

प्रस्तुत पुस्तक चार खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में फलोत्पादन के मूलभूत सिद्धांत के संदर्भ में फलों का महत्व, फलोत्पादन का इतिहास, विकास, पादप सुरक्षा आदि के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी दी गई है।

दूसरे खंड में प्रमुख फलों के संबंध में उनका इतिहास, विवरण, मिट्टी व जलवायु, प्रमुख किस्में, संकर किस्में व उनका विवरण, प्रवर्धन एवं बागबानी और अन्य पहलुओं पर गहन जानकारी दी गई है। इनमें आम, केला, अंगूर, लीची, नारियल, काजू, सेब, नाशपाती अमरूद आदि शामिल किए गए हैं।

लेखक ने तृतीय खंड में अन्य महत्वपूर्ण फलों की श्रेणी में बेर, आंवला, अनार, स्ट्रॉबेरी, बादाम आदि फलों के उत्पादन से संबंधित समस्त जानकारी दी है। चतुर्थ खंड में लोकाट, अंजीर, शरीफा, कीवी फल, फालसा, जैतून आदि फलों की जानकारी दी गई है।

'आधुनिक फलोत्पादन' नामक इस पुस्तक में ऐसे लगभग 35 से 40 फलों के उत्पादन के संबंध में विस्तृत जानकारी दी गई है, जो भारतीय बाजार में बिक्री के लिए पाए जाते है। जिसमें विभिन्न अध्यायों में अलग-अलग फलों के संघटन, पौष्टिक मान एव उपयोग, फल का वानस्पतिक विवरण, मिट्टी एवं जलवायु, फल की प्रमुख किस्में, फल-पादप का प्रवर्धन, बाग की संस्थापना, सिंचाई प्रबंधन, पोषण प्रबंधन, पुष्पन, परागण एवं फलन, पादप सुरक्षा के उपाय, तुड़ाई तथा उपज, भंडारण, विपणन तथा उपयोग, फलोत्पादन की समस्याएं एवं उनका विवरण आदि बिदुंओं पर गहराई से प्रकाश डाला गया है।

शब्दावली, भाषा-शैली, अभिव्यक्ति की दृष्टि से पुस्तक उच्च मानक स्तर की है। इससे यह पुस्तक कृषि के छात्रों, शोधार्थियों, कृषकों के लिए अत्यंत ज्ञानोपयोगी तथा लोकप्रिय साबित हो सकती है क्योंकि इस प्रकार की समस्त वैज्ञानिक जानकारी के साथ फल विज्ञान जैसे विषय में हिन्दी में विज्ञान लेखन के अभाव की प्रतिपूर्ति होगी।

पुस्तक के अंत में विषय-विशेष की संदर्भ-सूची और संक्षिप्त हिंदी-अंग्रेजी शब्दावली के समावेश ने पुस्तक को और भी मौलिकता प्रदान की है।

कुल मिलाकर यह नवीनतम पुस्तक (2009) फलोत्पादन विषय की प्रामाणिक व सराहनीय है कृषि एवं उनयेतन जिसका पठन-पाठन सभी कृषि विश्वविद्यालयो, विद्यालयों तथा पुस्तकालयों के लिए भी अनिवार्य प्रतीत होता है।

लेखक: डॉ. राम रोशन शर्मा, प्रकाशन वर्ष : 2009, पृष्ठ संख्या 519, मूल्य : 250/-
प्रकाशक: कल्याणी पब्लिशर्स 4779, अंसारी रोड, 23 दरियागंज, दिल्ली - 110002
समीक्षक: श्री अशोक सेलवटकर, वैज्ञानिक अधिकारी व प्रभारी, पाठमाला योजना, शब्दावली आयोग

2185 एच.आर.डी./10—11अ

आयोग के प्रकाशन

(क) आयोग द्वारा प्रकाशित शब्द-संग्रहों की सूची

क्र.सं.	शब्द-संग्रह	मूल्य
1.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान, खंड-1, 2 (पृ. 2058)	174.00
2.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : विज्ञान (हिंदी-अंग्रेजी(पृ. 819)	236.00
3.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मानविकी और सामाजिक विज्ञान, खंड-1,2 (1297)	292.00
4.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मानविकी और सामाजिक विज्ञान (हिंदी-अंग्रेजी)	132.00
5.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : कृषि विज्ञान (पृ. 223)	278.00
6.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : आयुर्विज्ञान, भेषविज्ञान, नृविज्ञान	239.40
7.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : आयुर्विज्ञान, कृषि एवं इंजीनियरी (हिंदी-अंग्रेजी)	48.50
8.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मुद्रण इंजीनियरी (पृ. 104)	48.00
9.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : इंजीनियरी (सिविल, विद्युत्, यांत्रिक) (पृ. 566)	57.00
10.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : इंजीनियरी-2 (पृ. 186)	84.00
11.	बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : प्राणिविज्ञान (पृ. 526)	311.00
	विषयवार शब्दावलियाँ/शब्दग्रह	
1.	मानविकी शब्दावली - (नृविज्ञान) (पृ. 179)	10.00
2.	कंप्यूटरविज्ञान शब्दावली (पृ. 337)	87.00
3.	इस्पात एवं अलोह धातुकर्म शब्दावली (पृ. 378)	55.00
4.	वाणिज्य शब्दावली (पृ. 172)	259.00
5.	समेकित रक्षा शब्दावली	284.00
6.	अंतरिक्ष विज्ञान शब्दावली	30.00
7.	भाषाविज्ञान शब्दावली (अंग्रेजी-हिंदी तथा हिंदी-अंग्रेजी) (पृ. 249)	113.00
8.	बृहत् प्रशासन शब्दावली (अंग्रेजी-हिंदी)	10.00
9.	बृहत् प्रशासन शब्दावली (हिंदी-अंग्रेजी)	20.00
10.	पशुचिकित्सा विज्ञान शब्दावली (पृ. 174)	82.00
11.	लोक-प्रशासन शब्दावली (पृ. 98)	52.00
12.	अर्थशास्त्र शब्दावली (मानविकी शब्दावली-9) (पृ. 96)	4.40

2185 एच.आर.डी./10—11ब

13. नृविज्ञान शब्दावली (पृ. 198)	10.00
14. गुणता-नियंत्रण शब्दावली (पृ. 67)	38.00
15. रेशमविज्ञान शब्दावली (पृ. 85)	50.00
16. कोशिका-जैविकी शब्द-संग्रह (पृ. 197)	62.00
17. गणित शब्द संग्रह (पृ. 357)	143.00
18. भौतिकी शब्द-संग्रह (पृ. 536)	119.00
19. गृहविज्ञान शब्द-संग्रह (पृ. 144)	60.00
20. रासायनिक इंजीनियरी शब्द-संग्रह (पृ. 167)	200.00
21. भूगोल शब्द-संग्रह (पृ. 369)	320.00
22. खनन एवं भूविज्ञान शब्द-संग्रह	88.00
23. भूविज्ञान शब्द-संग्रह (पृ. 328)	15.00
24. संरचनात्मक भूविज्ञान एवं विवर्तनिकी शब्द संग्रह (पृ. 48)	15.00
25. पत्रकारिता एवं मुद्रण शब्दावली (पृ. 184)	12.25
26. सूचना एवं प्रौद्योगिकी शब्द-संग्रह (पृ. 393)	231.00
27. पर्यावरणविज्ञान शब्द-संग्रह (पृ. 429)	381.00
28. रसायन शब्द-संग्रह (पृ. 918)	592.00

मूलभूत शब्दावलियां

1. गणित की मूलभूत शब्दावली (पृ. 135)	नि:शुल्क
2. कंप्यूटर विज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 115)	नि:शुल्क
3. भूगोल की मूलभूत शब्दावली (पृ. 156)	नि:शुल्क
4. भूविज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 141)	नि:शुल्क
5. वनस्पतिविज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 207)	नि:शुल्क
6. पशुचिकित्सा विज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 179)	नि:शुल्क
7. आयुर्विज्ञान की मूलभूत शब्दावली (पृ. 613)	नि:शुल्क

(ख) परिभाषा-कोशों की सूची

1. भूविज्ञान परिभाषा-कोश (पृ. 284)	10.00
2. भूगोल परिभाषा-कोश-2 (सामान्य भूविज्ञान) (पृ. 196)	13.50
3. संरचनात्मक भूविज्ञान परिभाषा कोश	-

4. शैलविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 195)	-
5. प्रारंभिक पारिभाषिक रसायन कोश (पृ. 242)	3.25
6. उच्चतर रसायन परिभाषा कोश	17.00
7. रसायन (कार्बनिक) परिभाषा कोश-3 (पृ. 280)	25.00
8. पेट्रोलियम प्रौद्योगिकी परिभाषा कोश (पृ. 188)	173.00
9. प्रारंभिक पारिभाषिक कोश गणित (पृ. 298)	18.75
10. गणित परिभाषा कोश (पृ. 253)	11.00
11. आधुनिक बीजगणित परिभाषा कोश (पृ. 159)	11.00
12. सांख्यिकी परिभाषा कोश (पृ. 432)	18.00
13. भौतिकी परिभाषा कोश (पृ. 212)	3.15
14. आधुनिक भौतिकी परिभाषा कोश (पृ. 290)	13.00
15. भूगोल परिभाषा कोश	10.00
16. मानव भूगोल परिभाषा कोश (पृ. 228)	18.00
17. मानचित्र विज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 361)	231.00
18. गृहविज्ञान परिभाषा कोश	-
19. गृहविज्ञान परिभाषा कोश-2 (पृ. 64)	9.00
20. इलेक्ट्रॉनिकी परिभाषा कोश (पृ. 215)	22.00
21. तरल यांत्रिकी परिभाष कोश (पृ. 76)	10.00
22. यांत्रिकी इंजीनियरी परिभाषा कोश (पृ. 135)	84.00
23. सिविल इंजीनियरी परिभाषा कोश (पृ. 112)	61.00
24. विद्यतु इंजीनियरी परिभाषा कोश	81.00
25. धातुकर्म परिभाषा कोश (पृ. 441)	278.00
26. आयुर्विज्ञान पारिभाषिक कोश (शल्यविज्ञान)	48.05
27. आयुर्विज्ञान परिभाषा कोश	336.00
28. इतिहास परिभाषा कोश (पृ. 297)	20.50
29. शिक्षा परिभाषा कोश (पृ. 197)	13.50
30. शिक्षा परिभाषा कोश-2 (पृ. 205)	99.00
31. मनोविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 62) 142	9.50

32. दर्शन परिभाषा कोश (पृ. 432)	9.75
33. अर्थशास्त्र परिभाषा कोश (पृ. 232)	117.00
34. अर्थमिति परिभाषा कोश (पृ. 245)	17.65
35. वाणिज्य परिभाषा कोश (पृ. 173)	24.70
36. समाजकार्य परिभाषा कोश (पृ. 183)	-
37. समाजशास्त्र परिभाषा कोश (पृ. 212)	71.40
38. सांस्कृतिक नृविज्ञान परिभाष कोश (पृ. 287)	24.00
39. पुस्तकालय विज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 196)	49.00
40. पत्रकारिता परिभाषा कोश (पृ. 164)	87.50
41. पुरातत्व परिभाषा कोश (पृ. 391)	76.50
42. पुरातत्व परिभाषा कोश-2 (पृ. 453)	509.00
43. पाश्चात्य संगीत परिभाषा कोश (पृ. 104)	28.55
44. भाषाविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 212)	89.00
45. भाषाविज्ञान परिभाषा कोश खंड-2 (पृ. 259)	59.00
46. कंप्यूटर विज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 144)	102.00
47. राजनीतिविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 356)	343.00
48. प्रबंधविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 191)	170.00
49. अंतरराष्ट्रीय विधि परिभाषा कोश (पृ. 293)	344.00
50. कृषिकीटविज्ञान परिभाषा कोश (पृ.213)	75.00
51. वनस्पतिविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 204)	75.00
52. पुरावनस्पति विज्ञान परिभाषा कोश (161)	80.50
53. पादप आनुवंशिकी परिभाषा कोश (पृ. 185)	75.00
54. पादपरोगविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 138)	77.00
55. मृदाविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 149)	77.00
56. प्राणिविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 220)	10.00
57. प्राणिविज्ञान परिभाषा कोश (परिवर्धित (पृ. 540)	216.00
58. सूक्ष्मजैविकी परिभाषा कोश (पृ. 193)	45.00
59. भारतीय दर्शन परिभाषा कोश खंड-1 (पृ. 171)	151.00

60. सूत्रकृमिविज्ञान परिभाषा कोश (पृ. 263)	125.00
(ग) पाठमालाएं/मोनोग्राफ	
1. ऐतिहासिक नगर	195.00
2. प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक नगर	109.00
3. समुद्री यात्राएं	79.00
4. विश्व दर्शन	53.00
5. अपशिष्ट प्रबंधन	17.00
6. कोयला : एक परिचय	294.00
7. वाहित मल एवं आपंक : उपयोग एवं प्रबंधन	40.00
8. पर्यावरणीय प्रदूषण : नियंत्रण तथा प्रबंधन	23.50
9. रत्न-विज्ञान - एक परिचय	115.00
10. 2.दूरीक एवं 2-मानकित समष्टियों में संपात एवं स्थिर बिंदु समीकरणों के साधन	68.00
11. पराज्यामितीय फलन	90.00
12. ऊर्जा : संसाधन और संरक्षण	105.00
13. स्वतंत्रता प्राप्ति पूर्व हिंदी में विज्ञान लेखन	176.00
14. समकालीन भारतीय दर्शन के मानववादी चिंतक	153.00
15. स्वास्थ्य दीपिका	200.00
16. इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी	90.00
17. भारतीय कृषि का विकास	-
18. भविष्य की आशा- हिंद महासागर	154.00
19. जैव प्रौद्योगिकी - अनुसंधान एवं विकास	134.00
20. इस्पात - एक परिचय	146.00
21. मानसून - एक परिचय	146.00
22. मैग्नेसाइट - एक भूवैज्ञानिक अध्ययन	167.00
23. प्राकृतिक खेती	167.00
24. हिंदी में स्वतंत्रतांपरिवर्ती विज्ञान-लेखन	280.00
25. विश्व के प्रमुख धर्मों में धर्म समभाव अवधारणा - एक तुलनात्मक अध्ययन	490.00
26. हिंदी विज्ञान पत्रकारिता- कल आज और कल	167.00

27. मृदा एवं पादप पोषण	–
28. नलकूप एवं भौमजल अभियांत्रिकी	398.00
29. पादपों में कीटप्रतिरोध और समेकित कीटप्रबंधन	357.00
30. द्रवचालित मशीन	–
31. पृथ्वी : उद्‌भव और विकास	80.00
32. भारत में भैंस उत्पादन एवं प्रबंधन	540.00
33. भारत में ऊसर भूमि एवं फसलोत्पादन	82.00
34. भारत में प्याज एवं लहसुन की खेती	60.00
35. पशुओं से मनुष्यों में होने वाले रोग	995.00
36. ठोस पदार्थ यांत्रिकी	34.00
37. वैज्ञानिक शब्दावली, अनुवाद एवं मौलिक लेखन	410.00
38. मृदा उर्वरता	93.00
39. पशुओं के कवकीय रोग उनका उपचार	54.00
40. समाजिक एवं प्रक्षेत्र वानिकी	118.00
41. विश्व के प्रमुख धर्म	100.00
42. सैन्य-विज्ञान पाठसंग्रह	270.00
43. लेटर प्रेस मुद्रण	68.00
44. लोहीय तथा अलोहीय धातु	58.00
45. बाल मनोविज्ञान पाठमाला (3)	343.00
46. भेड़ बकरियों के रोग एवं उनका नियंत्रण	40.00
47. विकास मनोविज्ञान (भाग 1)	30.00
48. विकास मनोविज्ञान (भाग 2)	40.00
49. पृथ्वी से पुरातत्व	

वर्ष 2009 अक्टूबर-दिसंबर अंक 71
प्र.भा.स.मु.रिं.रो.न.दि./2185 एच.आर.डी./10—1500.

© भारत सरकार

प्रकाशन-नियंत्रक

अक्तूबर–दिसम्बर-2009

पी. सी. एस. टी. टी. (10-12) 09

1,500

नियंत्रक, प्रकाशन विभाग, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054 द्वारा प्रकाशित तथा
प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड, मायापुरी, नई दिल्ली-110064 द्वारा मुद्रित
2010